जवाहर साहित्य के अन्य प्राप्ति स्थान

१. श्री सेठिया जैन लाइब्रेरी, बीकानेर

२. श्री भीखम चन्द अभाणी
ठि० दफ्तरियों की गली, बीकानेर

३. नवयुग ग्रंथ कुटीर, बीकानेर

श्री जवाहर किरणावली— ३० वीं किरण

卐

अनाथ भगवान्

(द्वितीय खण्ड)

स्वर्गीय श्री इन्द्रचन्द जी गेलड़ा की पुण्य स्मृति में उनकी धर्म-पत्नी द्वारा प्रदत्त सहायता से प्रकाशित

व्याख्याता
स्वर्गीय जैनाचार्य
पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज

●

सम्पादक
श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रथमावृत्ति
१०००

मूल्य १॥

दिनांक ८ मार्च '५५ "होलिकोत्सव"

शेखरचन्द्र सकसेना के प्रबन्ध से एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर में मुद्रित

प्रकाशकीय निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक अनाथ भगवान् का द्वितीय खण्ड है। पहले अनाथ भगवान् को एक ही जिल्द मे प्रकाशित करने की इच्छा थी ताकि प्रकाशन व्यय अधिक न हो पर पुस्तक के विस्तार को देखते हुए यह अनुचित प्रतीत हुआ एतदर्थ अनाथ भगवान् के दो खण्ड कर दिये। इस द्वितीय खण्ड को अल्प समय में ही आपके कर-कमलों में पहुँचाते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

अर्थ और विज्ञान की बहु-मुखी उन्नति और प्रगति के पश्चात् आज भी मानव का हृदय टीस, वेदना और पीड़ा से कराह रहा है। वह यह स्पष्ट अनुभव करता है कि शाति के नाम पर ज्वालामुखी पर्वत के मु ह पर बर्फ की एक परत, एक तह जमाई जा रही है, पर यह कहा तक मानव मन को कुरेदने वाली अशाति को दूर कर सकेगी? ज्वालामुखी का विस्फोट होकर रहेगा और उसमें जो प्रलय का दृश्य उपस्थित होगा, बहुत संभव है कि उस दर्दनाक विनाश पर आसू बहाने वाला भी न मिलेगा। अपने चन्द स्वार्थों की प्राप्ति के लिये अपने आपको शक्ति-संपन्न, समृद्धिशाली एव विश्व का नियन्ता समझ कर जो खाई वह खोदने जा रहा है, दूसरों के साथ वह स्वयमेव भी उस विनाश के गर्त में समाप्त हो जायगा।

अपने ही द्वारा फैलाये गये जाल अथवा गोरख-धन्धे में फंस कर मानव बुरी तरह छटपटा रहा है। वह मार्ग चाहता है पर प्रभूत तम तोम के कारण उसकी दृष्टि निराश लौट पड़ती है। ऐसे संक्रामक काल में महामना पूज्य श्री जवाहराचार्य का साहित्य ही एक मात्र मार्ग-दर्शक बन सकता है। मार्ग में भटके हुए पथिक, समुद्र में खोये हुए जहाज के लिये प्रस्तुत पुस्तक आलोक स्तम्भ है जो अविकल, निराशा के राशि-राशि अन्धकार को निगल कर पथ को प्रकाशित कर मार्ग-दर्शन करेगी। सान्ध्य नक्षत्र की तरह अनाथ भगवान् जीवन में आलोक भरेगी, इस दृढ़ आत्मविश्वास के आधार पर यह पुस्तक आपके कर कमलों में पहुँचा रहे हैं।

इस भाग का प्रकाशन भी प्रसिद्ध दानवीर सेठ स्वर्गीय श्री इन्द्रचंद जी गेलड़ा की पुण्य स्मृति में उनकी धर्मनिष्ठा धर्मपत्नी की ओर से हो रहा है। हम उनके इस महान् सहयोग का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं एवं हम अपनी तथा पाठकों की ओर से अनेकशः धन्यवाद देते हैं।

इसकी प्रस्तावना लिखने का जो कष्ट विद्वद्वर पण्डित सुशील मुनि साहित्यरत्न, शास्त्री ने किया है उसके लिए हम आपके आभारी हैं।

निवेदक,

भीनासर — चम्पालाल बांठिया

५-३-५५ — मंत्री, श्रीजवाहर साहित्य समिति

प्रस्तावना

आचार्य जवाहर भारतीय सन्त परम्परा के एक उदीयमान नक्षत्र थे। उनकी वाणी में त्याग का ओज, मनन का गाम्भीर्य तथा तत्व दर्शन का अमिट सत्य था। वह एक साहित्य स्रष्टा, प्रखर वक्ता तथा गभीर विचारक ही नहीं अपितु एक संस्था थे। राष्ट्र, समाज तथा धर्म की त्रिवेणी भी उनके पुष्कल एव अगाध ज्ञान राशि का सम्बल पाकर अविकल रूप से उर्जस्वित हो प्रवाहित थी।

उनके विचारों में भविष्य, जीवन मे अतीत और वक्तृत्व में वर्तमान का अपूर्व किन्तु समुज्ज्वल सामञ्जस्य था। सन्त संस्कृति के सदेशवाहक आचार्य जवाहिर ने उत्तर पश्चिम भारत पर अहिंसा का नवीन स्मारक खड़ा किया था, भारत के इस भू भाग पर वसने वाली शालीन जनता के दिलों पर आचार्य देव का शासन था। उनकी अप्रतिहत वाक्शक्ति विवेच्य विषय को अक्षरों का विन्यास देकर साकार चित्र खडा कर देती थी और श्रोतागण अवाक्, मन्त्र-मुग्ध हो अनायास ही झूम झूम उठते थे। महात्मा गांधी, सरदार पटेल, कस्तूर वा आदि राष्ट्रीय सन्त भी उनकी वाणी के अलौकिक पर अमिट प्रभाव से सराबोर थे। यही नहीं उनकी प्रतिभा के स्पर्श

से सहज स्फुरित उपदेश जन जन के जीवन को सुधासिक्त कर सयम एवं कल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर करते थे।

मै मानता हूँ कि भारत की सस्कृति संत सस्कृति रही है। भले ही यहां भद्र सस्कृति के भोगोन्मुख लोगों ने कितना ही आतङ्क और विलास की चमक पैदा की हो किन्तु सन्तों के त्याग के आकर्षण के आगे यहां कभी भी भोग का शासन स्थापित नहीं हो सका है।

जैनागम संत अथवा श्रमण संस्कृति के अमर उद्गारों का संग्रह है और फिर मूल उत्तराध्ययन शास्त्र का २० वां अध्याय तो संत और भद्र सस्कृति का साक्षात् प्रतीक ही है। अनाथ और सनाथ का निर्णय भोग पर नहीं त्याग के आधार पर हो सकता है, इस तथ्य का यह अध्याय ज्वलन्त उदाहरण है। भद्र सस्कृति का प्रतिनिधि मगध सम्राट बिम्बसार और सत सस्कृति का एक मात्र प्रतिनिधि अनाथी मुनि—ये दो पात्र इतने सक्षम और सफल रूप से अवतरित हुए है कि इस सवाद ने विश्व भर की विचारधारा को त्याग की ओर उन्मुख कर दिया है।

मैं विश्वास करता हूँ कि जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने रावणत्व पर रामत्व की विजय करवा कर मानव जाति को साहस और प्रेरणा का सम्बल प्रदान किया था, ठीक उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर-द्वारा प्रतिपादित सनाथ अनाथ संवाद के आधार पर आचार्य प्रवर जवाहर ने सत सस्कृति की ध्वजा भद्र संस्कृति पर प्रतिष्ठित की है। विलास एवं भोग प्रमुख पतनोन्मुख भद्र

संस्कृति का इन्दु अस्त हो चला एवं संत संस्कृति की विमल पताका फहराता हुआ जाज्वल्यमान दिनकर अपनी रजत रश्मियों से निखिल संसृति को आलोकित करने लगा।

भोगों का गुलाम, वासनाओं का दास, पदार्थों का आसक्त भोगाकुल मानव कभी भी नाथ नहीं हो सकता, नाथ-स्वामी, तो केवल अनासक्त, आत्मदर्शी विरक्त आत्मा ही लोक-त्रय का सम्राट कहलाने का अधिकारी हो सकता है। बस यही अमर संदेश इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया है।

आज के भौतिक प्रधान युग में ऐसे सांस्कृतिक विज्ञान की आवश्यकता थी जो अशांति के भीम भयंकर कोलाहल में तड़फते हुए विषम मानव जीवन को राहत दे सके तथा विश्व के वक्षस्थल पर लगे हुए घावों पर मरहम लगा सके, इसी अभाव की पूर्ति सन्त परम्परा के सेनानी आचार्य जवाहर ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के सुनहले, रुपहले भाषा चित्रों से की है। जनता इन्हें भाषण कहती है और मैं इन्हें संस्कृति का मुखर गान मानता हूँ। संस्कृति के इन गीतों में लय है, प्रवाह है, ओज है और है मृदुल भावमय प्राञ्जल स्पष्टता। महामहिम मनस्वी जवाहर ने प्रबुद्ध चितेरे सदृश उज्ज्वल चेतना को जीवन के चित्रफलक पर साकार, सम्यक् अङ्कित किया है साथ ही चित्रवर्णी तूलिका से परमात्मा तथा आत्मा के साक्षात्कार का अत्यन्त सजीव एवं भास्वर चित्र उतारा है जो पुस्तक के प्रति शब्द में मुखर मुखर है।

पुस्तक उपादेय बने, समाज प्रकाश प्राप्त करे और संत संस्कृति की प्रतिष्ठा हो यही एक मात्र कामना है।

बम्बई
दिनांक २ फरवरी १९५५

मुनि सुशील कुमार 'भास्कर'
शास्त्री, साहित्यरत्न

मुनि कहते हैं —इसी प्रकार मैं जो कहता हूँ, उस पर विश्वास रख कर तुम इस बात को सुनो।

राजन्! बहुत से लोग ऐसे कायर होते हैं जो निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके बाद में फिर अनाथता में पड़ जाते हैं और दुःख पाते हैं।

अनाथ मुनि कह चुके हैं कि कायर जन संयम में दुःख का अनुभव करते हैं। अतएव संयम न पालने वालों को यही विचार करना चाहिए कि जो वास्तव में संयम का पालन करते हैं, वे धन्य हैं, उनकी बलिहारी है! कोई-कोई लोग घोड़े को काबू में न रखने के कारण नीचे गिर पड़ते हैं। अतएव उन गिरनेवालों को यही देखना चाहिए कि घोड़े से न गिरने वाले अपने घोड़े को काबू में रख कर किस प्रकार यथास्थान पहुँच जाते हैं? इसी प्रकार संयम का पालन न कर सकने वालों को भी सोचना चाहिए कि संयमी जन किस प्रकार संयम का पालन करते हैं!

आप लोग अनाथता की बातें व्यवहार में जल्दी देख लेते और अपना लेते हैं; परन्तु सनाथता की बात को नहीं देख पाते। आप देखते हैं कि भूत या भवानी की सौ-पचास आदमी मनौती मनाते हैं। उनमें से एक-दो की अभिलाषा पूरी हो जाती है और शेष को निराश होना पड़ता है, परन्तु वह एक दो आदमी, जिनकी अभिलाषा पूर्ण हो गई है; उन शेष को नहीं देखते जो निराश हुए हैं। वे अपनी अभिलाषा पूर्ण हुई है, इसी कारण बाजा बजवाते हैं और अपनी सफलता का ढिंढोरा पीटते हैं और मनौती मनाते ही रहते हैं। इस प्रकार भूत-भवानी की उपासना करने वालों में इतनी दृढ़ता होती है, किन्तु आप लोगों में इतनी दृढ़ता नहीं होती। जो संयम का पालन करते हैं, उन्हें तो आप देखते नहीं, किन्तु जो संयम से पवित्र हो

जाते हैं, उनका सन्मान करते हैं। ऐसा करना क्या भूत-भवानी के भक्तों से भी गया-बीता कर्म नहीं है? खैर, आप मानें या न मानें, परन्तु मुनियों पर तो यह उत्तरदायित्व है ही कि वे संयम का बराबर पालन करें और निर्ग्रन्थ धर्म से पतित होकर, 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' जैसी गति न होने देने का ध्यान रक्खें।

प्रश्न हो सकता है कि निर्ग्रन्थ धर्म में ऐसा क्या दुःख है कि आत्मा संयम धारण करके फिर उससे पतित हो जाता है? आखिर कोई न कोई दुःख तो होना ही चाहिए, जिसे सहन न कर सकने के कारण कई लोग निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार कर के पुन: गिर जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कतिपय मनुष्य अच्छे कार्यों में भी दु:ख का अनुभव करते हैं और उन्हें आरंभ करके भी बीच में छोड़ भागते हैं। कल्पना कीजिए— कोई कहता है कि यहाँ से पचास कोस की दूरी पर धन का खजाना है। जो वहाँ जायगा उसे वह खजाना मिल जायगा।

खजाने का लोभ किसे नहीं होता? धन पाने की आशा से बहुत लोग चल पड़े; परन्तु कुछ लोग लक्ष्य तक पहुँचे और कुछ थक कर आधे रास्ते से ही वापिस लौट आए।

इसी प्रकार कुछ मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति के लिये संयम धारण करते हैं; परन्तु उनमें से भी कुछ ही लोग यथा-स्थान पहुँचते हैं और कितने ही लोग मार्ग में ही थक कर या प्रलोभनों से भ्रष्ट हो कर विमुख हो जाते हैं। किन-किन कारणों से लोग संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस विषय पर ज्ञाता-सूत्र में खूब विस्तार के साथ विचार किया गया है और एक उदाहरण भी दिया गया है। वह उदाहरण इस प्रकार है:—

धनावह नामक एक सेठ था। वह नाम का ही सेठ नहीं था, वरन् प्रजा का दुःख दूर करने में अपनी सेठाई का उपयोग करता था। वास्तविक सेठ वही है जो दूसरों का दुःख दूर करे और दूसरों पर कृपाभाव रखे।

सेठ ने एक बार नगर में ढिंढोरा पिटवाया—मैं सार्थ निकालना चाहता हूँ। जो भी चाहे, मेरे साथ चल सकता है। रास्ते में सब व्यवस्था मैं करूँगा। भोजन पानी, कपड़ा-लत्ता आदि सब मैं दूँगा और कमाई करने के लिए किसी को पूँजी की आवश्यकता होगी तो वह भी दूँगा।

भला ऐसा अवसर कौन चूकना चाहता है? बहुतेरे लोग सेठ के साथ जाने को तैयार हुए। सेठ ने सार्थ तैयार किया और सब व्यवस्था करके रवाना हुआ। चलते-चलते रास्ते में एक बड़ा जंगल आया। सेठ ने सार्थ के सब लोगों से कहा— आप सब का उत्तरदायित्व मेरे सिर पर है, अतएव मैं आपको एक सूचना करना चाहता हूँ। उस पर आप सब को विशेष ध्यान रखना होगा। सूचना यह है—

"इस जंगल में नन्दीफल नामक वृक्ष हैं। वे देखने में बड़े ही सुहावने प्रतीत होते हैं। उनकी गंध भी मोहक है और छाया भी शीतल है। वृक्ष इतने आकर्षक हैं कि मनुष्य बलात् उनकी ओर खिंच जाता है। उनके फल भी देखने में अत्यन्त सुन्दर और खाने में बहुत मीठे हैं। मगर उन फलों को खाने से परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। जो उन्हें खाता है, प्राणों से हाथ धो बैठता है। सत्य यह है कि वे फल 'मीठा विष' हैं। अतएव आप सब सावधान रहें। कटुक विष से बचना सरल है, किन्तु मधुर विष से बचना बहुत कठिन है। अतएव आप लोग वृक्ष की सुन्दरता से, छाया की शीतलता से या फल की स्वादिष्टता से लोभ में

न पड़ जाएँ। मेरा कहा मान कर मेरे पीछे-पीछे चले आओगे तो सुख-पूर्वक जंगल को पार कर सकोगे और यदि मेरी बात न मानी, फलों के लोभ में पड़ गये तो रास्ते में मरण-शरण होना पड़ेगा इसलिए नन्दीवृक्ष के फलों के प्रलोभन में मत पड़ना। मेरी इस सूचना को खासतौर से ध्यान मे रखना।"

इस प्रकार सब को सावधान करके सेठ आगे चला। जो लोग सेठ के कथन पर विश्वास रखकर उसके अनुसार चले और फलों के प्रलोभन में नहीं पड़े वे उस भयंकर जंगल को सकुशल सुखपूर्वक पार करने में समर्थ हुए। मगर कुछ लोग ऐसे भी थे, जो सेठ को पगला कहने लगे और वृक्ष की सुन्दरता, छाया की शीतलता तथा फलों की मधुरता देख ललचा गये। उन्होंने सेठ की बात नहीं मानी और फल तोड़ कर खा गये। फल खाते ही उनकी नसें खिचने लगीं, तब उन्हें सेठ की शिक्षा याद आई। किन्तु फिर 'फिर पछताये होत का चिड़ियाँ चुग गईं खेत।' विषैले फल खा लेने के पश्चात् सेठ की सूचना याद आने पर भी कोई लाभ नहीं हो सकता था। वे लोग अपनी लोलुपता के शिकार हो गये।

विचारणीय बात यहाँ यह है कि सेठ ने खान-पान, कपड़ा-लत्ता आदि की व्यवस्था कर दी थी। इसके अतिरिक्त जंगल के नन्दीफल खाने की मनाई भी कर दी थी। फिर भी उन लोगों ने सेठ की बात पर विश्वास नहीं किया और नन्दीफल का आस्वादन किया। यदि विचार किया जाय तो इसका कारण उन लोगों की कायरता ही है। कायरता के वशीभूत होकर ही उन्होंने जान-बूझ कर भूल की और अन्ततः उन्हे अपनी भूल का भोग होना पड़ा। इसके विपरीत जो लोग वीर थे, उन्होंने सेठ के

कथन पर विश्वास किया। उन्होंने नन्दीफल से बचकर सुखपूर्वक जंगल को पार किया।

यह उदाहरण देकर भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं— 'मैं सब का सार्थवाह हूँ। मेरे अनुयायी-जन अगर मेरे पीछे-पीछे चलते चलें और मेरे कथन की उपेक्षा न करें तो मैं सब को सकुशल संसार-अटवी से पार पहुंचा कर मोक्ष रूपी मंजिल पर पहुँचा दूँ। मगर यह तभी संभव है, जब साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका सब मेरे आदेशों का पालन करें। जो नन्दीफल के समान संसार के प्रलोभनों में पड़ जायगा और अपने आपको संयम में न रख कर रस-लोलुपता के जाल में फँस जायगा, वह संसार-अटवी के पार नहीं पहुँच सकेगा और दुःख का भागी होगा।'

यद्यपि भगवान् महावीर जैसे महान् त्यागी, परम वीतराग और सर्वज्ञ पुरुष के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, फिर भी कतिपय लोग खान पान की लालसा में और मौज-मजे में पड़ कर भगवान् के आदेशों का उल्लंघन करते हैं। अनाथी मुनि के कथनानुसार ऐसे लोग कायर हैं और अपनी कायरता के कारण ही वे अनाथ बन कर दुःखों के पात्र बनते हैं।

जिस प्रकार सेठ के त्याग और औदार्य को दृष्टि में रख कर साथ के लोगों को उसकी बात पर विश्वास करना चाहिए था, उसी प्रकार भगवान् के अपूर्व त्याग-वैराग्य के कारण भगवान पर भी पूर्ण विश्वास करना चाहिए। फिर भी जो लोग सेठ को ऊपर-ऊपर से तो 'सेठजी, सेठजी' कहते हैं, परन्तु उनकी वाणी को मानते नहीं हैं, उनकी रक्षा करने में सेठ समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऊपर-ऊपर से 'भगवान्-भगवान्'

करने वाले, किन्तु व्यवहार में उनकी आज्ञा न मानने वाले लोगों की भगवान् भी रक्षा नहीं कर सकते। भगवान् के तो वही हैं जो भगवान् की आज्ञा मानकर नन्दीफल के समान विषमय काम-भोगों का त्याग करते हैं।

यह तो साधुओं की बात हुई। परन्तु आप श्रावक भी अपने विषय में विचार कीजिए। आप क्या कर रहे हैं? आप कहते हैं—नाटक सिनेमा वगैरह में बड़ा आनन्द है, फिर भी क्यों उसका त्याग कराया जाता है? परन्तु जिस त्याग के कारण तुम्हारा गार्हस्थ्य जीवन संकुचित बनता हो अथवा निभ न सकता हो, उस त्याग की निन्दा करो तो कुछ समझ में भी आ सकता है, किन्तु जिस त्याग के अभाव में तुम्हारा जीवन अधिकाधिक बिगड़ता जाता है, उस त्याग को अपनाना कैसे बुरा कहा जा सकता है? जो वस्तु नन्दीफल के समान मधुर-विष से परिपूर्ण है और जो जीवन को 'खत्म' कर देती है, उसके त्याग में आपकी क्या हानि है? आप नाटक-सिनेमा या बीड़ी पीने का त्याग कर देंगे तो आपके जीवन में क्या कुछ खराबी आ जायगी? अगर खराबी नहीं आएगी और जीवन उत्तम बन जायगा तो फिर उसका त्याग क्यों नहीं करते?

आप भगवान् की आज्ञा नहीं मानते तो आपकी मर्जी, परन्तु हम साधु तो भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए ही निकले हैं। अतएव हमें तो भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही चलना चाहिए। भगवान् किसी साधु को खाने-पीने का एकदम निषेध नहीं करते, परन्तु उनका कथन यह है कि—हे साधुओं! तुम खाने-पीने के प्रलोभन में मत पड़ो। कदाचित् प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने में तुम्हें कठिनाई प्रतीत हो तो उस कठिनाई को और

कष्टों को सहनशीलता के साथ सह लो। इस प्रकार कष्टों को सहन करके प्रलोभनों पर विजय पाओगे तो तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी। वास्तव में त्याग में दुःख है ही नहीं, किन्तु लोग कायरता के कारण उसमें दुःख मानते हैं। अगर सहनशीलता पूर्वक कष्ट सहन कर लिये जाएँ तो घबराहट हो ही नहीं सकती।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! कितने ही कायर साधु, साधुवेष धारण कर लेते हैं और केशों को लुंचन भी करते हैं, किन्तु अन्तरंग और बहिरंग रूप एक सरीखा नहीं होता। वे बाहर कुछ दिखलाते हैं और अन्दर और ही कुछ रखते हैं। इस विरूपता के कारण वे अनाथ के अनाथ ही रहते हैं। साधु बन जाने के कारण उनका संसार-सम्बन्ध संसारी जैसा नहीं रहता और साधु धर्म का भी यथावत् पालन नहीं होता। इस प्रकार उनकी हालत बेढंगी बन जाती है।

आप साधुता के पुजारी हैं, केवल साधुवेष या विद्वत्ता के पुजारी नहीं हैं। काशी में अनेक पण्डित बहुत पढ़े-लिखे हैं, किन्तु क्या उन्हें साधु मान कर वन्दना करते हो? उन्हें आप वन्दना नहीं करते क्योंकि आप केवल पण्डिताई के पुजारी नहीं हैं, वरन् साधुता के ही पुजारी हैं। कहावत है—

'भेष पूजा ते मत दूजा।'

भगवान् महावीर का सिद्धांत केवल वेषपूजा का नहीं है, गुण की ही पूजा करने का है। अतएव गुण की परीक्षा करके उसकी पूजा करनी चाहिए। किसी साधु में वास्तविक साधुता का गुण नहीं है, केवल वेष है तो उसे नहीं मानना चाहिए।

किसी साधु में गुण है या नहीं, इस बात की साक्षी तुम्हारी आत्मा ही

देगी। यह बात दूसरी है कि आप अपनी आत्मा की सलाह की उपेक्षा करें, मगर यदि आप अपनी आत्मा की सलाह की उपेक्षा न करो तो आपकी आत्मा आपको सच्ची सलाह और साक्षी अवश्य देगी।

वृक्ष ऊपर—ऊपर से ही दृष्टिगोचर होता है, उसका मूल दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी वृक्ष को ऊपर से अच्छा देखकर अनुमान किया जा सकता है कि उसका मूल भी अच्छा ही होगा और वहाँ की भूमि भी अच्छी होगी। इसी प्रकार साधु की मुखमुद्रा और व्यवहार देखकर निर्णय किया जा सकता है कि उसमें गुण हैं या नहीं? ऐसा होने पर भी अगर यही आग्रह रक्खा जाय कि हम तो अमुक को ही मानेंगे फिर भले ही वह कैसा भी क्यों न हो, तो यह जान-बूझ कर गड्ढे में गिरने के समान है।

कहा जा सकता है कि कोई साधु ऊपर से साधुपन दिखला कर चालाकी से हमें ठग ले तो हमें क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि आप साधु को न पहचान सकें तो बात जुदा है, किन्तु आपकी अन्तरात्मा तो गुण की ही उपासक है और आपका ध्येय कोरे वेष को साधु मानना नहीं है। अतएव आपको तो गुण का ही लाभ होगा। शास्त्र में कहा है'—

'समयंति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होई त्ति उवेहाए'

--आचारांगसूत्र.

अर्थात्—तुम्हारा हृदय सम है और तुम समता के ही उपासक हो तो तुम्हें समता का ही लाभ होगा। किन्तु यदि तुम्हारे हृदय में असमता होगी, मलीनता होगी तो सच्चे साधु का सम्पर्क पाकर भी तुम अपना कल्याण नहीं कर सकोगे।

अतएव किसी साधु की चालाकी तुम्हारी समझ में न आवे और तुम

श्रमणोपासक होने के नाते, ऊपर से साधुता का प्रदर्शन करने वाले की उपासना भी करो, तो भी तुम्हें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। तुम्हारा हृदय शुद्ध साधुता का उपासक होना चाहिए।

आप कह सकते हैं—हमें साधुता की बातों से क्या सरोकार है? हमें [illegible]

इस कथन का उत्तर यह है कि संसार का सुधार तभी हो सकता है जब साधु को ही साधु माना जाय। जब तक असाधु को साधु माना जाता रहेगा, तब तक साधुओं का सुधार नहीं हो सकेगा और जब तक साधुओं का सुधार नहीं होगा तब तक संसार का सुधार होना कठिन है। अतएव पहले साधुओं का सुधार करो और साधुओं का सुधार करने के लिए अपना निज का सुधार करो।

अनाथ मुनि कहते हैं— राजन्! मैं केवल वेष से ही साधु नहीं हुआ, वरन् द्रव्य और भाव, दोनों प्रकार से साधु हुआ। इस प्रकार मैं अनाथता से मुक्त होकर सनाथ हो गया। जो लोग केवल वेष से ही साधु बनते हैं, वे निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके भी दुःख भोगते और अनाथता का अनुभव करते हैं।

इससे आगे अनाथ मुनि जो कुछ कहते हैं, वह भाव-मुनि के लिए कहते हैं। द्रव्य-मुनि के विषय में तो पहले ही कह चुके है कि निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करने के पश्चात् वेष धारण किया। इस प्रकार द्रव्य-साधु तो हो गये, परन्तु भावसाधु हुए हैं या नहीं; और यदि नहीं हुए तो क्यों नहीं हुए; इत्यादि बातें मुनि आगे बतलाते हैं।

पुलिस का सिपाही चोरी करे तो साधारण चोरी की अपेक्षा उसका

अपराध गुरुतर माना जाता है। सरकार ऐसे अपराधी को विशेष रूप से दण्डित करती है। कदाचित् सरकार ऐसे अपराधी को क्षमा भी करदे, किन्तु जो साधु होकर साधुपन नहीं पालता, शास्त्र उसकी निन्दा किये बिना नहीं रहता और उस पापश्रमण को अपराधी ही मानता है। शास्त्र स्पष्ट कहता है—'अगर तू निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार करके उसका यथायोग्य पालन नहीं करता तो अनाथ ही है। तेरा गृहत्याग व्यर्थ है।' अनाथ मुनि कहते हैं—

सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा।

इस वाक्य में जो 'बहु' विशेषण दिया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जो निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार नहीं करते, वे तो कायर हैं ही, किन्तु जो लोग निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके फिर अनाथता में पड़ जाते हैं, वे और भी अधिक कायर हैं। जिस प्रकार पुलिस के सिपाही द्वारा की हुई चोरी बड़ी चोरी मानी जाती है, उसी प्रकार जो साधु होकर भी साधु धर्म का पालन नहीं करता, वह अधिक कायर है।

कहा जा सकता है कि फिर तो साधु न बनना ही अच्छा है, किन्तु यह बात भी उचित नहीं है। जो मनुष्य सेना में भर्ती नहीं होता और घर में पड़ा रहता है, वह सेना में भर्ती न होने के कारण वीर नहीं कहलाने लगता। वीर तो वही कहला सकता है जो सेना में भर्ती होकर काम करता है। अलबत्ता जो सेना में दाखिल तो होता है, परन्तु अवसर आने पर कायरता दिखलाता है, वह अधिक कायर है। अगर आपको सेना में सम्मिलित होने के लिए कहा जाय और आप, 'सेना में सम्मिलित होकर काम न करने के कारण कायर कहलाना पड़ेगा' इस भय से सम्मिलित ही

न हों, तो यह आपकी कोई वीरता नहीं, कायरता ही है।

हाँ, सेना में भर्ती होकर कायरता प्रदर्शित करने वालों की अपेक्षा, घर में ही पड़ा रहने वाला एक प्रकार से अच्छा ही है। आप कहेंगे—ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि—एक आदमी चोरी करने के लिए सेना में दाखिल नहीं होता और दूसरा मनुष्य, सेना में भर्ती होने से चोरी करने में सुविधा होगी, ऐसा सोचकर सेना में भर्ती होता है। इन दोनों मनुष्यों में से सेना में भर्ती होकर चोरी करने वाले को अच्छा नहीं कहा जा सकता। पुलिस बनकर चोरी करने वाले की अपेक्षा, पुलिस में दाखिल न होने वाला अच्छा कहा जायगा।

यह एक उदाहरण है। इस उदाहरण के अनुसार साधु न होना कायरता है, किन्तु साधु होकर साधुधर्म का पालन न करना और बड़ी कायरता है। एक प्रकार से जो साधु नहीं बनते, वे कम कायर हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि साधु बनना बुरा है। जो लोग साधुधर्म अंगीकार करते हैं, उनमें से साधुपन को पालने वाले सच्चे साधु भी निकलते हैं, किन्तु जो साधुधर्म अंगीकार ही नहीं करते, उनमें से साधुधर्म का पालन करने वाले कैसे निकल सकते हैं? पुलिस के सिपाहियों में से कोई चोरी करता है, तो भी पुलिस के बिना काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार साधु बनने वालों में से कोई-कोई खराब निकल जाते हैं, किन्तु साधुओं के बिना संसार का काम चल भी तो नहीं सकता। अतएव यह कहना अयुक्त है कि साधु होना बुरा ही है। अलबत्ता जो लोग साधु होकर भी साधुधर्म का पालन नहीं करते, उन्हें सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए; मगर यह समझ लेना तो भूल ही है कि साधुपन ही बुरा है। आप लोग

जिस दिन इस सुधार की ओर ध्यान देंगे, धर्म को अन्तःकरण से अपनाएँगे और धर्म के लिए आत्म बलिदान देने के लिए भी तैयार रहेंगे, उस दिन संसार का सुधार हुए बिना रहेगा ही नहीं।

मुनि कहते हैं— हे राजा, निर्ग्रन्थ-धर्म शूरों द्वारा पाला जा सकता है। इसे कायरलोग नहीं पाल सकते, लेकिन बहुत-से कायरलोग, निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करके, घर-बार, कुटुम्ब, संसार आदि छोड़ भी देते हैं, संयति का वेश भी पहन लेते हैं, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका आदि भी धारण कर लेते हैं और फिर कामना-पूर्ण न होने पर, साधुपने में दुःख पाते हैं।

कई लोग क्षणिक आवेश में, सनाथ बनने की क्षणिक भावना से प्रेरित होकर, संयम ले लेते हैं। कई, संसार-व्यवहार का भार सहन न कर सकने के कारण, कमा कर खाने की अशक्तता के कारण, संयम ले लेते हैं। कई—

'नारि मुई गृह संपति नासी।
मूंड मुंडाय भये सन्यासी।'

इसके अनुसार, यानी स्त्री सम्पत्ति आदि के नष्ट हो जाने से, संयमी बन जाते हैं। कई साधुओं की प्रतिष्ठा देख कर वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए, साधु-वेश पहन लेते हैं। इस-प्रकार बहुत से कायर लोग, भिन्न-भिन्न कारणों से संयम स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन वास्तव में उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं होता, आकांक्षा-रहित, संयम लेने की भावना नहीं होती, सनाथ बनने के परिपक्व विचार नहीं होते, इसलिए संयम में दीक्षित होने के पश्चात्, वे, पश्चाताप करते हैं, संयम में कष्ट अनुभव करते हैं और कीचड़ में फँसे हुए हाथी के समान, दुःखी रहते हैं ऐसे लोग, वीर नहीं,

किन्तु कायर हैं। संयम लेकर संयम में दुःख मानना वैसी ही कायरता है, जैसी कायरता, घर से लड़ाई के लिए निकल कर फिर मरने में और घर से सती होने के नाम पर जीवित जलने के लिए निकल कर फिर अग्नि में जलने से भय करने में मानी जाती है। जिस प्रकार लड़ाई के लिए घर से निकला हुआ, मृत्यु से भय न करने पर ही लोक व्यवहार में वीर माना जाता है, उसी प्रकार संयम लेकर उस में दुःख न मान कर सुख मानने वाला ही वीर है।

राजा, सयम लेकर फिर सयम में दुःख अनुभव करने वाला व्यक्ति, किसी भी ओर का नहीं रहता। न वह ससार-व्यवहार का ही रहता है, न संयम का ही। उसकी दशा, धोबी के कुत्ते की सी होती है, जो न घर का ही होता है, न घाट का ही। इसी प्रकार, संयम लेकर फिर सयम में दुःख अनुभव करने वाले व्यक्ति का जीवन, ससार और सयम, दोनों की उलझन में ही वीत जाता है। न वह असयमी ही रहता है, न सयम लेकर सनाथ ही बन पाता है। ससार की अनाथता से निकल कर, दूसरी अनाथता में पड़ जाता है, जो असयम की अनाथता से भी बुरी होती है।

कायरलोग, सयम लेकर उसमें सासारिक सुखों की इच्छा करते हैं। वे अच्छा-अच्छा भोजन, मान-प्रतिष्ठा, अच्छे-अच्छे वस्त्र आदि चाहते हैं और जब इनकी प्राप्ति नहीं होती, तब वे सयम में दुःख मानते हैं। यद्यपि संयम लेने के समय, सासारिक सुखों को त्याग चुके हैं, लेकिन कायरलोग, सयम में सासारिक सुख चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने के लिए, वे अपने सयम के ध्येय को भुला देते है। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता, कि हमारा ध्येय क्या है, हम किस भावना को लेकर उठे हैं और

संयम लेने के समय हमारा उद्देश्य क्या था? वे लोग, एक ओर तो सांसारिक सुख भी भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर, साधुपने की मान प्रतिष्ठा भी। यानी यह भी चाहते हैं, कि हमें कोई असंयमी भी न कहे, किन्तु संयमी मान कर सब हमारी पूजा-प्रतिष्ठा करें और यह भी चाहते हैं, कि हमें संसार के समस्त सुख भी प्राप्त हों। इसके लिये, वे, प्रकट में तो साधु का वेश रखते हैं और परोक्ष में, सांसारिक-सुख प्राप्त करने के उपाय करते रहते हैं, तथा सांसारिक सुख न मिलने पर, अपने आपको कष्ट में मानते हैं। यदि वे, सांसारिक सुख-प्राप्त भी कर लेते हैं, तब भी उन्हें दुःख घेरे ही रहता है। उन्हें सदा यह भय बना रहता है, कि हमारे इस असंयमपूर्ण कुकृत्य का कहीं भण्डा न फूट जावे। भण्डा फूट जाने पर, हम अपमानित हो जावेंगे, इस आशंका से, वे, यह सोचते रहते हैं कि हमने संयम क्यों ले लिया? उनसे संयम का वेश भी त्यागते नहीं बनता। ऐसा करने में, अपमान एवं निन्दा का भय है। इस प्रकार के कायर लोग संयम को दुःख मानते हैं और संयम से पतित भी हो जाते हैं।

मुनि कहते हैं— राजन्! जो पुरुष निर्ग्रन्थधर्म को प्राप्त करके उसका पालन नहीं करता, वह कर्मबंध के मूल कारण का उच्छेद नहीं कर सकता। साधुधर्म को अंगीकार करने से आत्मा उसी भव में या आगामी कुछ भवों में मोक्ष प्राप्त करता है; किन्तु जो साधुधर्म अंगीकार करके कायर बन जाता है, वह कर्मबन्ध के मूल को छेद नहीं सकता। उसने साधु का वेष तो धारण किया है और महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा भी की है, परन्तु प्रमादवशात् या रसगृद्ध होने के कारण वह महाव्रतों का पालन नहीं

करता। साधु बन कर भी कर्मबंध के मूल को न छेद सकने का कारण प्रमाद है। अगर स्वयं के हृदय में प्रमाद न हो तो भले कोई स्वार्थी उसे महाव्रतों का पालन करने का निषेध करे, फिर भी वह नहीं मानेगा। वह गृहीत महाव्रतों का पालन करेगा ही।

महाव्रतों के विषय में विस्तार से कहना चाहिए, किन्तु इस समय अवकाश की कमी से संक्षेप में ही कहता हूँ। 'महा' शब्द सापेक्ष है और वह लघु की अपेक्षा रखता है। लघु न हो तो 'महा' भी नहीं हो सकता। लघु की अपेक्षा 'महा' और महा की अपेक्षा लघु किस प्रकार है, इस विषय में मैंने एक पुस्तक में एक उदाहरण पढ़ा था। वह यह है—

एक बादशाह बाजार में जा रहा था। रास्ते में उसने लड़कों को खेलते देखा। उनमें वजीर का भी एक लड़का था। बादशाह ने सोचा—इनमें वजीर का लड़का कौन है और वह कैसा बुद्धिमान् है, परीक्षा करके इस बात का निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके बादशाह ने अपनी लकड़ी से जमीन पर एक लकीर खींच दी। फिर उन लड़कों से कहा— 'देखो, इस लकीर को मिटाये बिना छोटी कर दो।'

सब लड़के एक दूसरे के सामने देखने लगे। किसी की समझ में न आया कि बिना मिटाये इस लकीर को छोटी कैसे करें। तब वजीर के लड़के ने कहा—'आप अपनी लकड़ी मुझे दें तो मैं कर सकता हूँ।'

बादशाह ने लड़के को लकड़ी दे दी। वजीर के लड़के ने बादशाह द्वारा खींची हुई लकीर के ठीक सामने एक नवीन और उससे ज्यादा लम्बी लकीर खींच दी। इस लकीर के खिंचते ही पहली लकीर छोटी दिखाई पड़ने लगी। तब लड़के ने बादशाह से कहा -देखिए, आपकी लकीर

छोटी हो गई है। अगर आप न मानें तो किसी और से पूछ लीजिए कि आपकी खींची लकीर छोटी है या बड़ी?

बादशाह—ठीक है; तुम किस के लड़के हो?

बालक— मैं वजीर का लड़का हूँ।

बादशाह— इसी से यह इतना बुद्धिमान् है।

अभिप्राय यह है कि महान् की अपेक्षा लघु है और लघु की अपेक्षा महान् है। इस नियम के अनुसार महाव्रत की अपेक्षा अणुव्रत और अणुव्रत की की अपेक्षा महाव्रत हैं।

अगर श्रावकों में अणुव्रत न हों, अर्थात् वे स्थूल हिंसा भी करने लगें, असत्य भाषण करने लगें, चोरी करने लगें, व्यभिचार करने लगें और परिग्रहपरिमाण न करें तो महाव्रत भी नहीं रह सकते। अतएव यदि आप सद्गुरु चाहते हैं तो आपको अणुव्रतों का पालन करना चाहिए। आज के लोग स्वयं अणुव्रत तो पालते नहीं, अत गुरु भी ऐसे ही चाहते हैं। और फिर जैसे को तैसे मिल भी जाते हैं।

कई लोग बुरा काम होते देखकर कहते हैं—क्या करें, हम तो गृहस्थ हैं। परन्तु उन्हें मालूम नहीं कि गृहस्थ चारों गतियों का मेहमान होता है और श्रावक देवलोक का अधिकारी होता है। अगर आप अणुव्रतों का भली-भाँति पालन करें तो खराब साधु आपके पास टिक ही नहीं सकते। पर अक्सर होता यह है—

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों डूबे बापडे, चढ़ पत्थर की नाव॥

जब गुरु लोभी और चेला लालची होता है, तब दोनों समान ही बन

जाते हैं। शिष्य सोचता है—गुरु का काम हमारे बिना नहीं चलता, अतः हम इनका मतलब पूरा कर दें और ये हमारा मतलब पूरा कर देंगे। गुरु भी यही सोचता है। दोनों अपनी-अपनी चाल चलते हैं और दोनों एक दूसरे को धक्का देकर डुबाते हैं। परन्तु आप लोग अगर श्रावकव्रत का भली-भाँति पालन करें और सच्चे साधुओं की ओर ही सद्भाव और श्रद्धा रख कर उनकी सहायता करें तो अनाथ मुनि और राजा श्रेणिक का जमाना आज भी उपस्थित हो सकता है।

अनाथ मुनि, राजा श्रेणिक से जो कुछ कह रहे हैं, वह राजा से ही नहीं, सभी से कह रहे हैं। अगर वह राजा से ही कहें और दूसरों से न कहें तो महानिर्ग्रन्थ न रह जाएं। शास्त्र में साधुओं के लिए कहा है—

जहा पुन्नस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।

—श्रीमदाचारांगसूत्र

अर्थात्—साधु सब को समान रूप से धर्म का उपदेश करते हैं। जिस प्रकार किसी महान् को धर्म सुनाते हैं, उसी प्रकार तुच्छ को भी सुनाते हैं और जिस प्रकार किसी तुच्छ को सुनाते हैं उसी प्रकार महान् को भी सुनाते हैं। मुनि की पक्षपातहीन नजरों में राजा-रंक, सधन-निर्धन, सब समान हैं।

इस कथन के अनुसार महानिर्ग्रन्थ के लिए तो सम्राट् श्रेणिक और कोई दरिद्र समान ही थे। फिर भी उन्होंने राजा श्रेणिक को संबोधन करके यह बातें कही हैं' इसका कारण यह है कि पात्र ही उपदेश को झेल सकता है। वीर पुरुष ही इस उपदेश को झेल सकता है। ढीली-ढाली धोती वाले बनिये इस उपदेश को नहीं झेल सकते। उन्हें तो मामूली त्याग भी बहुत

कठिन जान पड़ता है।

महानिर्ग्रन्थ, श्रेणिक को साधुओं के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं–राजन्! साधु दीक्षा लेकर के भी जो वणिक्-वृत्ति का त्याग नहीं करता, वह अनाथ ही है। 'हम ऐसा करेंगे तो लोग हमारी मान्यता करेंगे', ऐसा सोच कर दिखाने के लिए बाह्य क्रिया करना वणिक् वृत्ति है। यह वृत्ति मनुष्य को साधु हो जाने पर भी अनाथ ही बनाये रखती है, सनाथ नहीं होने देती।

राजन्! जो कर्मबन्धन के आधीन है वह अनाथ है और जो कर्म-बन्धन को तोड़ता है वह सनाथ है। द्रव्यसाधु कर्मबन्धन को तोड़ने में समर्थ नहीं होता, अतएव वह अनाथ है। वह महाव्रतों को पालन करने की प्रतिज्ञा तो करता है, किन्तु प्रमाद के वश होकर महाव्रतों को जीवन-स्पर्शी नहीं बनाता। अतएव वह अनाथ है।

महाव्रत, अणुव्रतों की अपेक्षा से हैं, अतएव महाव्रत के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है, उसके साथ अणुव्रत को भी शिक्षा दी जाती है। आपको साधुओं और उनके महाव्रतों का विचार करने से पहले अपने अणु-व्रतों के विषय में विचार कर लेना चाहिए।

जिन व्रतों में किसी प्रकार की छूट रहती है, वह अणुव्रत कहलाते हैं और जिनमें किसी भी प्रकार की छूट नहीं होती, उन्हें महाव्रत कहते हैं। जैनशास्त्र में पाच महाव्रत और योगदर्शन में पाच यम कहे गये हैं। पर बलिहारी उनकी है जो पाच महाव्रतों या पाच यमों का यथोचित रूप से पालन करते हैं। योगशास्त्र में कहा है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पाच यम हैं। जैनशास्त्र में भी यही कहा गया है कि

किसी की हिंसा न करना, असत्य न बोलना, अदत्त न लेना, शीलव्रत का पालन करना और किसी भी वस्तु पर ममत्व न रखना, यह पाच महाव्रत हैं। अणुव्रतों में थोड़ी छूट रहती है। जैसा—मैं अहिंसा का पालन करूँगा, किन्तु जो मेरा अपराध करेगा, उसे मैं दंड दूँगा। इस प्रकार अहिंसा पालन में एक छूट रख लेने के कारण यह व्रत अणुव्रत कहलाया। इस प्रकार छूट रखकर जो मनुष्य अपराधी के सिवाय किसी दूसरे को कष्ट नहीं देता, वह अणुव्रती कहलाता है। अणुव्रत और महाव्रत मे यही अन्तर है।

योगदर्शन में पॉच यमों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि देश, जाति, काल, समय आदि का, किसी भी प्रकार का अपवाद न रखकर, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करना पॉच यमों का पालन करना कहलाता है। पॉच महाव्रतों या यमों में देश, जाति, काल या समय आदि का कोई अपवाद नहीं रहता, जब कि अणुव्रतों में अमुक-अमुक अपवाद रक्खे जाते हैं। जैनशास्त्र की यही विशेषता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार धर्माचरण की सुविधा प्रदान करता है।

देश सम्बन्धी अपवाद रखने का अर्थ यह है कि—मैं अमुक देश में तो अहिंसा आदि का पालन करूँगा, किन्तु उससे बाहर नहीं। इस प्रकार की छूट महाव्रतों में या पॉच यमों में नहीं हो सकती। इसी प्रकार अमुक जाति के जीवों की हिंसा नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा लेना अपूर्ण अहिंसा है। जैनशास्त्र के अनुसार अहिंसा महाव्रत में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के जीवों की हिंसा करने की छूट नहीं हो सकती। अतएव जिस अहिंसा में

इस प्रकार की अपूर्णता है, वह अहिंसा अणुव्रत के अन्तर्गत है, महाव्रत में नहीं। महाव्रत में तो एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवों की हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का मन, वचन, काय से त्याग किया जाता है।

आज महाव्रत की इस व्याख्या को न समझने के कारण बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है। कुछ लोग कहते हैं, हम स्वयं हिंसा न करें किन्तु दूसरे से करावें या हिंसा का उपदेश दें तो क्या हानि है? मगर वास्तव में जो दूसरों द्वारा की जाने वाली हिंसा का अनुमोदन करता है, वह साधु नहीं। [illegible]
अनुमोदन भी नहीं करता।

देश मे, अमुक देश में हिंसा नहीं करूँगा और अमुक देश मे करूँगा, इस प्रकार की मर्यादा बाधी जाती है। यह मर्यादा अणुव्रत मे है। जैसे दिशाव्रत मे प्रतिज्ञा ली जाती है कि—मैं अमुक सीमा के बाहर की हिंसा का त्याग करता हूँ। यह अणुव्रत के अन्तर्गत है। साधुओं के लिए तो महाव्रत है, जिसका पालन सब देशों में समान रूप से करना अनिवार्य होता है। साधु को कोई अढाई द्वीप के बाहर ले जाय तो वह वहा भी अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन, बिना किसी अपवाद के, पूर्ण रूप से करेगा। ऐसा नहीं है कि अढ़ाई द्वीप के बाहर कोई दूसरे व्रत हैं और भीतर दूसरे। इस प्रकार देश या जाति सबंधी किसी भी प्रकार का अपवाद महाव्रतों मे नहीं होता।

यह हुई देश और जाति की बात। अब काल की बात लीजिए। काल के सबंध मे यह छूट रक्खी जाती है कि—सुकाल होगा तो मैं अहिंसा व्रत का पालन करूँगा, किन्तु जब दुष्काल या आपत्तिकाल होगा तब हमारा

आपद्धर्म अलग है। जैसे कोई स्त्री या पुत्र को सताता हो तब अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। ऐसे अवसर पर तो आततायी को दंड दिया जाता है। इस प्रकार अहिंसाव्रत में छूट रखना महाव्रत नहीं है। शास्त्र इस छूट के साथ व्रत लेने से रोकता नहीं, किन्तु वह व्रत अणुव्रत होगा, महाव्रत की कोटि में नहीं गिना जायगा। महाव्रत तो वही होगा, जिसको अंगीकार करने के पश्चात् किसी भी अपराधी को दंड न दिया जाय—हिंसा न की जाय। जो महाव्रतों को स्वीकार तो करता है, किन्तु अहिंसा का निरपवाद पूर्ण रूप से पालन नहीं करता, वह अनाथ ही है, सनाथ नहीं।

काल के पश्चात् समय का भी अपवाद बतलाया गया है। महाव्रतों में समय का भी अपवाद नहीं रक्खा जाता। समय का अर्थ है-अवसर। मान लीजिए, कोई ऐसा अपवाद रखता है कि—कदाचित् मुझे कोई भयंकर रोग हो जाय और उसे दूर करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़े अथवा मुझे कोई जीव दृष्टिगोचर न हो परन्तु रोगनिवारण के लिए उसकी हिंसा हो जाय तो छूट है, तो यह छूट वाला व्रत महाव्रत में नहीं गिना जायगा। हाँ, अणुव्रत में इस प्रकार की छूट रक्खी जा सकती है। अतएव साधु ऐसी छूट नहीं रख सकते। अगर रात्रि में चलना पड़े तो चाहे कोई जीव हो या न हो, साधु तो ओघा से जमीन पूंज-पूंज कर ही चलते हैं। शास्त्र में कहा है कि ओघा साधु से पाँच हाथ दूर रहे तो उसे मासिक दंड आता है।

अभिप्राय यह है कि जिन व्रतों में देश, काल, समय और जाति आदि का किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं रक्खा जाता, वह महाव्रत कहलाते हैं। महाव्रत सार्वभौम हैं, अतएव उनमें किसी प्रकार की छूट की गुंजायश नहीं है।

मुनि कहते हैं राजन्! जो लोग विपुल सम्पत्ति प्राप्त करके भी इधर-उधर भटकते हैं, वे अविवेकी हैं। जो अवसर मिट्टी को चाक पर चढ़ा कर घड़ा बनाने का है, उसी अवसर पर अगर मिट्टी को चाक से उतार कर फैंक दिया जाय तो क्या यह अवसर को गँवाना नहीं है? इसी प्रकार मनुष्यजन्म और निर्ग्रन्थता प्राप्त होने पर भी जो दुखी होते हैं, वे अनमोल अवसर गँवाते हैं। ऊँची स्थिति पर पहुचकर नीचे गिरने का यह कैसा ज्वलंत उदाहरण है? इस प्रकार गिरने वाले लोगों पर ज्ञानी जन करुणा करते हैं।

आप किसी को नीचे गिरते देखेंगे तो उस पर करुणा करेंगे, परन्तु दूसरों पर करुणा करने से पहले अपने ऊपर करुणा करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम अपनी आत्मा पर ही करुणा करनी चाहिए।

मुनि कहते हैं—"राजा, कायर लोग, अहिंसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा तो करते हैं, लेकिन वे, अग्नि, पानी, आदि का आरम्भ भी करते हैं, लोगों से, लड़ाई-झगड़ा एवं निर्दयता का व्यवहार भी करते हैं, क्षमा को पास भी नहीं आने देते और बात-बात में क्रोध करते रहते हैं। ऐसा करने वाले अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाले नहीं हैं। अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, अपनी प्रतिज्ञा को कभी भी न भूलेगा, किन्तु यह ध्यान रखेगा, कि 'मैं' अहिंसा महाव्रत को स्वीकार करके संयम में प्रव्रजित हुआ हूँ, मैंने, संसार के सब जीवों को अपना मित्र माना है, फिर किसी जीव की हिंसा कैसे करूँ। किसी जीव के शरीर या मन को कैसे दुखाऊँ। किसी पर क्रोध कैसे करूँ। ऐसा करने पर मैं, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला कैसे रह सकता हूँ।"

राजा, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, किसी दूसरे जीव को भी दुःख नहीं देता है और अपने आप को भी दुःखी नहीं करता है। ऐसे व्यक्ति को, चाहे कोई मारे, गाली दे, अपमानित करे और घोर कष्ट देकर प्राण भी हरण करले, तब भी वह प्रसन्न ही रहता है। अपने आपको, दुःख मे तो मानता ही नहीं, न प्रतिहिंसा या वैर विरोध के भाव ही हृदय में आने देता है। ऐसे समय में, अहिंसावादी विचारता है कि 'यह व्यक्ति जो मार रहा है या गाली दे रहा है, आत्म-स्वरूप को भूल कर, पतित हो रहा है, तथा हिंसा कर रहा है। यह दूसरे को दुःख देने वाला, अपने आत्मा को नीची दशा में गिरा कर ही, दूसरे को दुःख देता है। यदि इसका आत्मा उर्ध्व दशा में होता, तो यह ऐसा करता ही क्यों। इसमें, काम क्रोध आदि दुर्गुण विद्यमान हैं, तभी तो यह ऐसा कर रहा है। यदि इसके साथ मैं भी ऐसा करने लगूँ, मैं भी अपने आत्मा को दुःखी करूँ, मैं भी अपने में, वैर-विरोध या क्रोध आने दूँ, तो हिंसा करने वाले में और मुझ अहिंसा का पालन करने वाले में, क्या अन्तर रहा ? फिर मैंने, प्राणिमात्र से मित्रता का क्या व्यवहार किया ? मुझे दुःख देने के नाम पर, यह, अपने आत्मा को दुःखित कर रहा है। यदि मैं भी इसी की तरह अपने आत्मा को दुःखित करूँ, जिसे यह दुःख मान रहा है, उसे ही मैं भी दुःख मानूँ, तो मैं सनाथ कैसा ? फिरतो मैं भी इसी की तरह अनाथ हुआ।' इस प्रकार के विचार रख कर, अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाला, आप स्वयं भी दुःखी नहीं होता, न किसी दूसरे को ही दुःखी करता है। वह तो, प्रत्येक दशा में, आनन्दित ही रहता है। कायर लोग, अहिंसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा लेकर भी, इसके विपरीत व्यवहार करते हैं।

वे लोग, प्रकट या अप्रकट हिंसा करते हैं, लेकिन अपनी कायरता छिपाने के लिए, उस हिंसा को भी अहिंसा के ही अन्तर्गत बतलाते हैं और इस प्रकार अपने आपको, अहिंसक घोषित करते रहते हैं।

संयम लेने के समय स्वीकार किये जाने वाले, पाँच महाव्रत में दूसरा महाव्रत, सत्य है। इस सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन तभी होता है, जब मन, वचन, और काया से झूठ का त्याग किया जावे। सत्य महाव्रतधारी, कभी और किसी भी दशा में, झूठ का प्रयोग नहीं करता। भय, क्रोध, हास्य आदि के वश हो कर भी, झूठ नहीं बोलता। संयम से प्रवर्जित व्यक्ति, झूठ तो बोलता ही नहीं, लेकिन ऐसा सत्य भी नहीं बोलता, जिसके कारण दूसरे को दुःख पहुंचे।

सनाथी मुनि कहते हैं--राजा, कायर लोग, प्रतिज्ञा करके भी, इस सत्य महाव्रत का पालन नहीं करते। झूठ को काम में लाने से किंचित् भी नहीं हिचकिचाते और ऐसा करके भी अपने आपको, सत्य महाव्रत का पालन करनेवाला बतलाते हैं।

तीसरा महाव्रत अदत्तादान त्याग है। कोई वस्तु चाहे वह किसी के अधिकार में हो या न हो—बिना किसी के दिये, लेना, अदत्तादान है। तीसरे महाव्रत का पालन करने वाला, ऐसी कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता, जो किसी के द्वारा दी हुई न हो। उसे यदि मार्ग पर की धूल की आवश्यक्ता होगी तो वह भी, किसी न किसी स्वीकृति से लेगा, बिना स्वीकृति न लेगा। वह विचारेगा, 'संसार की समस्त वस्तुओं पर से मैं अपना अधिकार उठा चुका हूँ। मेरे अधिकार में केवल वे ही वस्तुएँ हैं, जो संयम की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। इसलिए मैं, अपने अधिकार से परे की

किसी भी प्रकार के मैथुन का सेवन नहीं करता। वह, इस सम्बन्धी उन समस्त नियमों के पालन का पूरा ध्यान रखता है, जो शास्त्र में बतलाये गये हैं, इस महाव्रत को धारण करने वाला, केवल शरीर से ही नहीं, किन्तु मन और वचन से भी, मैथुन का चिंतवन या सेवन नहीं करता।

सनाथो मुनि कहते हैं—राजा! कायर लोग, संयम लेकर भी इस चौथे महाव्रत का पालन नहीं करते। वे किसी न किसी रूप में मैथुन का सेवन करते रहते हैं, ब्रह्मचर्य्य की रक्षा के नियमों की अवहेलना करते हैं और ऐसा करके भी अपने आपको पूर्ण ब्रह्मचारी बतलाते हैं।

पाँचवा महाव्रत, अपरिग्रह है। इस महाव्रत में, परिग्रह का बिलकुल त्याग किया जाता है। किसी वस्तु पर ममत्व रखने का नाम ही परिग्रह है, फिर वह चाहे सोना चाँदी हो या, कपड़ा कागज आदि। छोटी से छोटी, एवं बड़ी से बड़ी वस्तु—यदि उस पर ममत्व रखा तो वह परिग्रह में है। इस महाव्रत का पालन करनेवाला, और किसी वस्तु पर ममत्व रखना तो दूर रहा, अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता। उसके शरीर को, चाहे कोई क्षत-विक्षत कर डाले या नष्ट कर डाले, तब भी उसे चिन्ता नहीं होती। यह किसी भी छोटी या बड़ी—ऐसी वस्तु को अपने पास नहीं रखता, जिसकी संयम पालने में आवश्यकता न हो।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, संयम लेकर भी, कायरों से वस्तु का ममत्व नहीं छूटता। अपरिग्रह व्रत लेकर भी, वे, घरबार, स्त्री, पुत्र, या शिष्य-शिष्या से ममत्व रखते हैं। उनसे, स्वीकार किये हुए अपरिग्रह व्रत का पालन नहीं होता। फिर भी वे, अपने आपको अपरिग्रही ही कहते हैं।

राजा, संयम लेने के समय पाँच महाव्रत को, तीन करण और तीन

योग से पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है, और हिंसा, झूठ, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य्य और परिग्रह का, तीन करण तीन योग से त्याग किया जाता है। गृहस्थों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले पाँच अणुव्रत मे जो सकुचितपना रहता है, इन महाव्रतों में व्रत संकुचितपना नहीं है, किन्तु इनमें विशालता है। गृहस्थ लोग, इन व्रतों को स्थूल रूप में स्वीकार करते हैं और स्थूल व्रत में भी आगार रखते हैं। वे, स्थूल अहिंसा व्रत स्वीकार करके, अपराधी को दण्ड देने, स्थूल सत्यव्रत स्वीकार करके बिना जानी बात के लिए झूठ का प्रयोग हो जाने, स्थूल अदत्तादान व्रत स्वीकार करके, अपने मित्र, भाई आदि की वस्तु बिना दिये लेने, स्थूल ब्रह्मचर्य्य व्रत स्वीकार करके, स्व-स्त्री सेवन करने, स्थूल अपरिग्रह व्रत स्वीकार करके मर्यादित परिग्रह रखने का आगार रखते हैं, लेकिन संयम लेने वाले, इन व्रतों को महाव्रत के रूप में स्वीकार करते हैं, तथा किसी भी प्रकार का आगार नहीं रखते। गृहस्थों के व्रत में, स्थूल एवं आगार की जो सकुचितता है, साधु उस संकुचितता से निकल जाता है। वह इन व्रतों को, सूक्ष्म रूप से स्वीकार करता है। गृहस्थ, दो करण तीन योग आदि भेदों से व्रत स्वीकार करता है लेकिन साधु तीन करण तीन योग से व्रत स्वीकार करते हैं।

राजा पंच महाव्रत को स्वीकार करके फिर उनका भली प्रकार पालन न करने वाले, उनके पालन मे प्रमाद करने वाले, पासत्था कहलाते हैं। पासत्था लोग पंच महाव्रत के पालन में शिथिलता करते हैं, अर्थात भली प्रकार पालन नहीं करते, किन्तु सासारिक सुखों की चाह करते हैं और ऐसा करके भी अपने आपको साधु बतलाते हैं। यदि कोई उनसे पूछता है, कि तुम अपने आपको साधु कैसे कहते हो, तो वे कहते हैं, कि हमने पंच महा-व्रत धारण किये हैं। लेकिन राजा, पंच महाव्रत धारण करने मात्र से साधु

नहीं होता, साधु तो पंच महाव्रत का पालन करने से होता है। सनाथ तभी तो हो सकता है, जब पंच महाव्रत का भली प्रकार पालन करे, प्रमाद न करे। पंच महाव्रत धारण करके भी जो उनका पालन नहीं करता है, वह पासत्था, एक अनाथता से निकल कर दूसरी अनाथता में पड़ जाता है।

राजा, पासत्था का मन स्थिर नहीं रहता है। महाव्रता का पालन तभी हो सकता है, जब मन चंचल न हो, किन्तु स्थिर हो। महाव्रतो का धारण तथा अव्रतों का त्याग, मन से किया जाता है। जब मन ही अस्थिर हो, तब की हुई प्रतिज्ञा का ध्यान एवं उसका पालन कैसे हो सकता है? मन के अस्थिर रहने से, वह पासत्था, जानबूझ कर भी महाव्रतों का उल्लंघन करता है, फिर भी वह स्वयं, महाव्रतो का उल्लंघन नहीं समझता।

आउत्तया जस्स य अत्थि कोई,

इरियाए भासाए तहेसणाए।

आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए,

न वीरजायं अणुजाइ मग्गं॥ ४०॥

अर्थ—वह कायर ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और परिष्ठापनिका समिति मे तनिक भी यतना नहीं करता। अर्थात्—चलने, बोलने, आहारादि लेने, किसी उपकरण को धरने-उठाने और परठने में किंचित् भी सावधानी नहीं रखता। ऐसा करने वाला कायर वीरों के मार्ग पर नहीं चल सकता।

व्याख्यान—मुनि पहले एक प्रकार की अनाथता बतला चुके हैं। यहां दूसरे प्रकार की अनाथता बतला रहे हैं। वे निर्ग्रन्थधर्म को प्राप्त करके पतित हो

जाने वालों की बात कह रहे हैं। इसको कहने का उद्देश्य यह है कि एक मनुष्य दूसरे को पतित हुआ देखकर साहसहीन हो जाता है और दूसरा उसी को पतित देखकर अधिक साहसी बनता है।

पंचम काल की विषमता देखकर अज्ञानी डर जाते हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें देखकर नवीन ही विचार करते हैं। वे सोचते हैं— यह पंचम आरा तो है ही, इसमें विषमता होना आश्चर्य की बात नहीं। इस विषमता से बचने के लिए हमें अधिक दृढ़ होना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके ज्ञानी और अधिक दृढ़ होते हैं, और अज्ञानी जीव शिथिल बनते हैं। परन्तु वास्तव में इस प्रकार पतित होने वाले लोगों को देखकर प्रत्येक को अधिक सावधान होना चाहिए।

एक आदमी पत्थर की ठोकर खाकर गिर जाता है तो दूसरा आदमी उसे गिरा देख कर स्वयं भी गिरता है या अधिक सावधान बनता है? वह यही सोचता है कि यह आदमी ठोकर खाकर गिर गया है तो मुझे अधिक सावधान होकर चलना चाहिए और ऐसा सोचकर वह सावधानी के साथ चलता है। इसी प्रकार एक को संयम से पतित हुआ देखकर दूसरे को अधिक सतर्क होना चाहिए।

महाव्रतों में किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता है, इस संबंध में पातञ्जल-योगदर्शन में कहा है:—

वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्।

इस कथन का सरल अर्थ यही है कि वितर्कों को दूर करने के लिए प्रति-पक्षी भावना का सेवन करना चाहिए। वितर्क क्या है और उसकी प्रतिपक्ष-भावना क्या है, यह विचार बहुत लम्बा है। यहाँ तो संक्षेप में ही बतलाता हूँ।

वितर्क का अर्थ है—उलटा तर्क। जैसे पाँच महाव्रतों से विपरीत हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और लोभ-तृष्णा हैं। महाव्रत धारण कर लिये, पर उनसे विपरीत हिंसा आदि के वितर्क जब आड़े आएँ तो उस समय क्या करना चाहिए? इस विषय में कहा है कि वितर्कों को दूर करना चाहिए, हटा देना चाहिए। तब प्रश्न खड़ा होता है कि उन्हें किस प्रकार दूर किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है कि प्रतिपक्षी भावना के द्वारा उन वितर्कों को दूर करना चाहिए।

यहाँ महाव्रतों के विषय में कहा गया है; किन्तु अणुव्रतों के विषय में भी यही बात है। अणुव्रतों में भी जब वितर्क खड़े हों तो प्रतिपक्षी भावनाओं द्वारा उन्हें निवारण करना चाहिए।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पाच महाव्रत हैं। अहिंसा का साधारण अर्थ है—हिंसा न करना। कई लोग कहते हैं कि अहिंसा तो कायरों का सहारा है, किन्तु अहिंसा कायरों की नहीं, वीरों की वस्तु है। सच्चा वीर ही अहिंसा का पालन कर सकता है। सच्चा अहिंसक इतना वीर होता है कि वह इन्द्रों को भी हरा सकता है। वह निरन्तर लड़ता ही रहता है, विपक्ष का विनाश करता ही रहता है। आप कह सकते हैं—अहिंसक के हाथ में तलवार तो होती नहीं, फिर वह किस प्रकार लड़ता है? इसका उत्तर यह है कि उसके पास जीवरक्षा का साधन जो रजोहरण होता है, वही अहिंसक की तलवार है। यह रजोहरण भी एक द्रव्यचिह्न है। अहिंसक के पास सच्चा और अमोघ शस्त्र तो उसकी अपनी भावना ही है। अहिंसा के विपक्ष को हटाने की जो भावना है, वही अहिंसक का शस्त्र है।

अभिप्राय यह है कि विपक्ष को हटाने के लिए प्रतिपक्षी भावना का सेवन करना चाहिए। अहिंसा का वितर्क हिंसा है। इस वितर्क को दूर करने के लिए हिंसा की प्रतिपक्षी भावना—अहिंसा को अपनाना चाहिए। अर्थात् हिंसा के वितर्क को अहिंसा द्वारा दूर करना चाहिए। हिंसा के वितर्क को दूर करने के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना का अवलम्बन लेना चाहिए। बालभाषा में भी कहा है:—

> गुणी जनों को वन्दना, अवगुण जान मध्यस्थ।
> दुखी देख करुणा करे, मित्र भाव समस्त।

यह चार भावनाएँ हैं। पद्य में पहली प्रमोद भावना बतलाई है, अर्थात् गुणी जनों को देखकर वन्दना करके प्रमोद प्राप्त करना चाहिए। यहाँ गुणी जनों के गुणों का अभिप्राय व्यवहारिक गुण नहीं है। क्योंकि व्यावहारिक गुण जितने ज्यादा होते हैं, उतनी ही धमाल ज्यादा होती है। व्यावहारिक गुण की दृष्टि से, ससार में जो गुणी हैं, देव उन सबसे अधिक गुणी हैं। वे तीन ज्ञान के स्वामी होते हैं, मगर उन्हें वन्दना नहीं की जा सकती। यहा वही गुणी जन समझने चाहिए जो तीन गुप्तियों और पाँच समितियों का पालन करते हैं। इस प्रकार सयमगुण को धारण करने वाले के प्रति प्रमोदभावना रखकर वन्दना करनी चाहिए।

दूसरी मध्यस्थभावना है। जो खराब है, हिंसक है, उसके प्रति भी मध्यस्थ भाव रखकर विचार करना चाहिए—यह आत्मा हिंसा करता है, इसी कारण खराब है; अगर यह हिंसा का त्याग करके अहिंसक बन जाय तो मेरे लिए वन्दनीय-पूजनीय बन सकता है। अर्जुन माली हिंसक था, किन्तु जब वह भगवान् का शिष्य बनकर अहिंसक बन गया, तब वह भी वन्दनीय हो गया। सुदर्शन ने भी उसे वन्दना की। क्या ऐसे अवगुणी

को वन्दना करना उचित था? सुदर्शन का उसे गुरु मानना क्या उचित था? पर गुणों के ग्राहक पहले की बातों को भूल कर गुणों को ही ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हिंसक अहिंसक बन जाएँ, ऐसी भावना रखनी चाहिए। भावना रखने पर भी अगर उसकी हिंसा न छूटे तो उसके प्रति मध्यस्थ भावना तो अवश्य ही रखनी चाहिए। किसी भी स्थिति में उसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए।

कामदेव को धर्म से च्युत करने के लिए देव, पिशाच का रूप धारण करके, तलवार लेकर आया था। फिर भी कामदेव ने उस पर क्रोध नहीं किया। उसने तो यही विचार किया कि—यह पिशाच मेरी परीक्षा करने आया है कि मुझे परमात्मा के प्रति प्रीति है या नहीं? इसके सिवाय यह पिशाच मुझे 'अप्पत्थियपत्थिया' अर्थात् अनिष्ट की कामना करने वाला बतलाता है, सो उसका यह कहना ठीक ही है। जो वस्तु अवाञ्छनीय है, उसकी वाञ्छा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार देव का कथन है तो सत्य, मगर अन्तर यही है कि यह धर्म को अवाञ्छनीय मानता है और मैं पाप को अवाञ्छनीय समझता हूँ। धर्म को अवाञ्छनीय समझने के लिए इसे कितना कष्ट भोगना पड़ रहा है। इस बेचारे में इतना दुःख भर गया है कि इसका दुःख इसके शरीर से बाहर निकल कर मेरे समीप तक आ पहुंचा है। यह बड़ा ही दुखी है। अतएव इस पर करुणा करनी चाहिए। प्रभो! मेरी यही अभ्यर्थना है कि इसका भी कल्याण हो।

बहुत बार ऐसा होता है कि दूसरों में कोई बुराई देखकर मनुष्य ऐसा कर बैठता है कि अपने अन्दर भी बुराई उत्पन्न हो जाय या अपने सद्‌गुण

भी नष्ट हो जाएँ। आप ऐसा न कर बैठें, इस बात का ध्यान रखिए। महापुरुषों के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है कि सद्गुणों के द्वारा दुर्गुणों पर विजय प्राप्त की जाय। सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली को प्रतिपक्षी भावना द्वारा ही जीता था। भाव की बात अलग है, पर ऊपर का श्रम तो अर्जुन माली को ही अधिक पड़ा था, फिर भी विजय सुदर्शन को ही प्राप्त हुई। इसी प्रकार कामदेव को धर्मच्युत करने के लिए देव को कितना अधिक श्रम करना पड़ा था। उसे पिशाच का रूप धारण करना पड़ा था। उसने आसुरी प्रकृति के अनुसार वीभत्स रूप धारण किया था, परन्तु जब आसुरी प्रकृति के सामने दैवी प्रकृति प्रकट हुई तब देव पराजित होकर भाग गया। दैवी प्रकृति के प्राकट्य से आसुरी प्रकृति विलीन हो गई। अतः हिंसा का मुकाबिला करने के लिए अहिंसा की भावना भानी चाहिए।

तीसरी करुणा भावना है। जिसके हृदय में करुणा होती है, वे कदापि यह विचार नहीं करते कि—दूसरा मरता है तो भले मरे, हमें तो अपने आनन्द से मतलब। करुणा भावना वाला तो दूसरे के हित के लिए अपने शरीर का भी उत्सर्ग कर देता है। वह दूसरे को दुखी देखकर स्वयं दुख का अनुभव करता है। अनुकम्पा का अर्थ ही यह है—'अनुकूलं कम्पनं चेष्टनम्—इति अनुकम्पा।' अर्थात् दूसरे को जो दुःख है, वह दुःख मुझे ही है इस प्रकार की भावना उत्पन्न होना अनुकम्पा है।

आप लोग अहिंसक कहला कर भी अगर घर के लोगों पर और नौकर-चाकरों पर भी अनुकम्पा न रक्खें तो क्या यह ठीक कहलाएगा? कोई नौकर बीमार हो, फिर भी उससे काम लेना अथवा उसका वेतन काट लेना अहिंसक को शोभा नहीं देता। अंग्रेज लोग भी अपने बीमार नौकरों की

सार-सँभाल रखते हैं और बीमारी की अवस्था में उनका वेतन नहीं काटते। तो फिर आप अहिंसक होकर ऐसा करें, यह क्या आपको शोभा देता है? कदापि नहीं।

जिनके हृदय में अनुकम्पा या करुणा है, वे दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानते हैं और दूसरों को दुःखमुक्त करने के लिए सभी शक्य प्रयत्न करते हैं। पर आप क्या करते हैं, इस पर विचार करो। मान लो, आपके पास दो कोट हैं और आपको सिर्फ एक कोट की आवश्यकता है। एक कोट बेकार पड़ा है। ऐसी स्थिति में कोई गरीब आदमी तुम्हारे सामने कड़कड़ाती हुई सर्दी से थर-थर काप रहा है। क्या तुम अपना कोट उसे दे सकोगे? यह तो नहीं कहोगे कि मरे तो भले मरे, मुझे क्या मतलब? अगर तुम ऐसा कहते या सोचते हो तो तुम्हारे हृदय में करुणा नहीं है। सच्चा करुणावान् तो वही है जो दूसरों के दुःख का प्रतीकार करने के लिए या उन्हें दुःख न होने देने के लिए स्वयं दुःख सहन कर लेता है। धन्य हैं वे धर्मरुची अनगार, जिन्होंने चींटियों की अनुकम्पा करके स्वयं कटुक तूंबे का शाक खा लिया और अपने प्राण दे दिये, परन्तु चींटियों की रक्षा कर ली। और धन्य हैं भगवान् अरिष्टनेमि जिन्होंने पशुओं की रक्षा के लिए राजीमती जैसी सन्नारी का भी परित्याग कर दिया। इन महापुरुषों ने तो करुणा के लिए ऐसा अपूर्व और अद्भुत त्याग किया मगर आपसे गरीबों की करुणा के लिए फैंसी कपड़े भी नहीं त्यागे जाते! सच्चा दयालु सदैव यही विचार करता है कि मेरे किसी भी काम से किसी को तनिक भी दुःख नहीं होना चाहिए।

चौथी मैत्री भावना है। इस भावना के अनुसार संसार के समस्त

प्राणियों को अपना मित्र बनाना चाहिए। आप प्रतिक्रमण में तो प्रतिदिन यह पाठ बोलते हैं—

मित्ती मे सव्वभूएसु

अर्थात्—समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव है।

सद्भाग्य से आपको यह पाठ तो याद है, परन्तु पाठ का उच्चारण करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मत समझो, किन्तु उस पाठ को जीवन में उतारकर सब जीवों को अपना मित्र बनाओ।

इस प्रकार उपर्युक्त चार भावनाओं से अहिंसा के विषय में उत्पन्न होने वाले कुतर्कों का नाश होगा और अहिंसा भाव प्रकट होगा। यह चार भावनाएं महाव्रतों को अंगीकार करके पुनः उनसे पतित होने से बचाती हैं।

महाव्रतों में किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता है, इस संबंध में थोड़ा कहा जा चुका है, अब भी उसी संबंध में कुछ कहना है।

यद्यपि गृहस्थ महाव्रतों को स्वीकार नहीं करते, किन्तु अणुव्रतों को स्वीकार करते हैं, फिर भी अणुव्रतों के आधार पर महाव्रतों की सिद्धि होती है। अणुव्रत स्वयं गृहस्थों के लिए तो लाभदायक हैं हीं, साथ ही दूसरों के लिए भी लाभप्रद हैं। इसी प्रकार महाव्रत भी अपने ही लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए भी लाभप्रद हैं। अणुव्रत या महाव्रत का खण्डन करने वाला अपनी हानि तो करता ही है, दूसरों की भी हानि करता है। अतएव महाव्रत क्या हैं और उन्हें किस प्रकार स्थिर रक्खा जा सकता है? यह बात समझने योग्य है। कुछ लोगों को सत्य को समझना भी कठिन मालूम होता है, पर सत्य बात को समझने से और सत्य को स्वीकार करने से भी

बहुत लाभ होता है।

राजा श्रेणिक सत्य को स्वीकार करने में सकोच नहीं करता था। इसी कारण अनाथी मुनि की बात समझने में उसे देर नहीं लगी। अनाथी मुनि कहते हैं—राजन्! जो कायरता के कारण महाव्रतों का पालन करना छोड़ देता है, वह अनाथ ही है।

महाव्रतों की रक्षा प्रतिपक्षी वस्तु का नाश करने से होती है। जिसके द्वारा एक पक्ष को बाधा पहुँचती है, वह उसका प्रतिपक्ष कहलाती है। बिल्ली को दूध और कौवा को दही की रक्षा का काम सौंपा जाय तो वे उन वस्तुओं को बिगाड़ेंगे ही। बिल्ली से चूहे की रक्षा करवाई जाय तो कैसे होगी? बिल्ली चूहे की प्रतिपक्षी है। इसी प्रकार महाव्रत के जो प्रतिपक्षी हैं, उनसे महाव्रतों को बचाते रहोगे तो ही उनकी रक्षा होगी। अहिंसा से विरुद्ध हिंसा, सत्य से विरुद्ध असत्य, अस्तेय से विरुद्ध स्तेय (चोरी), ब्रह्मचर्य से विरुद्ध मैथुन और अपरिग्रह से विरुद्ध ममत्वभाव है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि हिंसा करने से अहिंसाव्रत का नाश होता है या हिंसा कराने से अथवा हिंसा का अनुमोदन करने से? इस प्रश्न के उत्तर में जैन शास्त्र मे और पातञ्जलयोगदर्शन में भी कहा गया है कि तीनों बातें हिंसा से विरुद्ध समझनी चाहिए। हिंसा करने से, हिंसा कराने से और हिंसा का अनुमोदन करने से भी अहिंसा का नाश होता है।

कुछ लोगों का कथन है कि यदि स्वयं हिंसा न की जाय और दूसरों से कह कर कराई जाय तो क्या बाधा है? परन्तु जैसे हिंसा करना अहिंसा का प्रतिपक्ष है, उसी प्रकार हिंसा कराना और उसका अनुमोदन करना भी

प्रतिपक्ष है। अतएव तीनों कारणों से अहिंसा का नाश होता है।

एक प्रश्न और उठता है। वह यह कि स्वयं हिंसा करने से अधिक पाप होता है या कराने से? इस प्रश्न का एकांत रूप में कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में गम्भीर विचार करने से प्रतीत होगा कि स्वयं अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य में जो यतना की जा सकती है, वह दूसरों से करवाने पर नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अपने हाथ से होने वाले कार्य में मर्यादा की जितनी रक्षा हो सकती है, उतनी दूसरों के हाथों कराने में नहीं हो सकती। इस दृष्टि से देखा जाय तो कभी-कभी स्वयं करने की अपेक्षा कराने में अधिक हिंसा हो जाती है, और कभी-कभी अपने हाथ से करने में भी, विवेक न रहने पर, अधिक हिंसा हो सकती है। अतएव एकान्त रूप से नहीं कहा जा सकता है कि स्वयं करने में अधिक पाप है या कराने में अधिक पाप है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि लोग आलस्य में पड़े रहने के कारण और अविवेकपूर्वक काम कराने के कारण विशेष पाप के भागी हो जाते हैं। आज लोग स्वयं आलस्य मे पडे रहते हैं और दूसरों से काम कराते हैं, इस कारण संसार में आलस्य बढ़ गया है। शास्त्र में बहत्तर कलाओं को बतलाने का अभिप्राय यही है कि लोग आपस में संघर्ष न करें और विवेकपूर्वक अपना कार्य करें।

सारांश यह है कि साधु स्वयं हिंसा न करे किन्तु दूसरों से करावे तो क्या बाधा है? ऐसा कहने वालों को समझना चाहिए कि हिंसा करना, कराना और हिंसा का अनुमोदन करना, यह तीनों अहिंसा के प्रतिपक्षी हैं और इस कारण तीनों ही वर्ज्य हैं।

पातञ्जल योगसूत्र मे आगे कहा है—क्रोध, लोभ और मोह के वशी-

भूत होने से हिंसा होती है। यहां यद्यपि मोह को अन्त में गिनाया है, तथापि ज्ञानियों के कथनानुसार हिंसा आदि जितने भी पापकर्म होते हैं, सब मोह से ही होते हैं। सत् वस्तु को असत् और असत् को सत् मानना मोह है। जैनशास्त्र में इसी को मिथ्यात्व कहा है।

स्वयं हिंसा करना, दूसरे से कराना और हिंसा का अनुमोदन करना, इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। फिर क्रोध, लोभ और मोह से हिंसा करना, कराना और अनुमोदन करना, इस प्रकार हिंसा के नौ भेद हो जाते हैं। क्रोध, लोभ और मोह भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन तीन प्रकार के हैं। जिसमें उत्कृष्ट (अति तीव्र) क्रोध होता है वह उत्कृष्ट हिंसा करता है, जघन्य (हलका) क्रोध होता है वह जघन्य हिंसा करता है और मध्यम क्रोध वाला मध्यम हिंसा करता है। इस तरह पूर्वोक्त नौ भेदों के भी तीन तीन भेद हो जाते हैं, अतएव हिंसा सत्ताईस प्रकार की है। यह सत्ताईस प्रकार की हिंसा मन से भी की जाती है, वचन से भी की जाती है और काय से भी की जाती है। अतएव हिंसा के २७×३ = ८१ भेद होते हैं।

यह सब भेद जीवों को दुःख देने वाले हैं और जन्म मरण को बढ़ाने वाले हैं। इस अनर्थ से बचने के लिए हिंसा की प्रतिपक्षी भावना भानी चाहिए। जो हिंसा की प्रतिपक्षी भावना नहीं भाता, वह अनेक बार हिंसा का भी प्रतिपादन करने लगता है। वह स्वयं भी पतित होता है और दूसरों को भी पतित करता है। इसी कारण ऐसे मनुष्य अनाथ मुनि के कथनानुसार अनाथ हैं।

यह मुख्य रूप से साधुओं की बात हुई। श्रावकों के विषय में भी

विचार करें। जब अणुव्रतों के विषय में आपके चित्त में वितर्क उठें उस समय आप प्रतिपक्षी भावना का अवलम्बन लेंगे तो आपका भी कल्याण होगा और साथ ही दूसरों का भी कल्याण कर सकोगे।

मन में वितर्क उत्पन्न होने से हृदय में बहुत उदासीनता आ जाती है। प्रतिपक्षी भावना का आश्रय लेने से उन वितर्कों का नाश हो जाता है और अन्तःकरण में एक प्रकार का अनूठा तेज प्रस्फुटित होता है। महाभारत के युद्ध में अर्जुन के मन में उदासीनता आ गई थी और उदासीनता के कारण शिथिल होकर उसने धनुष एक ओर फैंक दिया था, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उसे बोधप्रदवचन सुनाये तो उसमें पुनः तेज का संचार हुआ और वह पूर्ववत् तेजस्वी बन गया। इसी प्रकार श्रावक जब तक साधु के सद्वचन नहीं सुनता तब तक वह उदासीन रहता है। सद्वचन सुनने से उसकी उदासीनता हट जाती है और नूतन तेजस्विता आ जाती है।

जब महाभारत युद्ध होना निश्चित हो गया तब कौरव और पाण्डव दोनों विजय लाभ की कामना करने लगे। भावना तो दोनों की ही विजय-लाभ की थी, किन्तु एक पक्ष सत्य के द्वारा विजय लाभ करना चाहता था और दूसरा पक्ष सत्य से विमुख होकर भी विजय प्राप्त करना चाहता था।

दुर्योधन ने सोचा– कृष्ण बड़े ही दूरदर्शी और नीतिज्ञ हैं वह हमारे पक्ष में आ जाएं तो हमारी विजय असंदिग्ध हो सकती है। उधर अर्जुन ने भी यही सोचा—यदि कृष्णजी हमारी ओर हों तो हमारी विजय में कोई संशय ही न रहे। इस प्रकार कृष्ण को अपने अपने पक्ष में दोनों लाना चाहते थे। दोनों उन्हें युद्ध का आमन्त्रण देने गये। कृष्ण उस समय शयन कर रहे थे। उन्हें सोया देख दुर्योधन विचार करने लगा— कृष्ण सो रहे हैं,

तब तक मुझे कहाँ बैठना चाहिए ? मैं राजा हूँ और विजय का अभिलाषी हूँ, अतएव मुझे अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार इनके सिरहाने बैठना चाहिए। यह सोचकर वह उनके सिर की ओर बैठ गया। परन्तु अर्जुन कृष्णजी के प्रति दासभाव— नम्रभाव रखता था। उसने सोचा —मुझे कृष्णजी को अपने पक्ष में लेना है तो उनके प्रति नम्रता प्रदर्शित करनी चाहिए। यह विचार कर वह उनके पैरों की ओर खड़ा हो गया।

कृष्ण यथासमय जागे। मनुष्य जब सोकर उठता है तब उसका शरीर स्वाभाविक रूप से पैरों की तरफ जाता है और मुख भी पैरों की तरफ होता है। कृष्णजी सोकर उठे तो उनका मुख अर्जुन की ओर फिरा और पीठ दुर्योधन की तरफ हुई। यह देख कर दुर्योधन सोचने लगा—अर्जुन पहले आमंत्रण दे देगा और संभव है कि ये उसके आमंत्रण को स्वीकार भी कर लें, अतएव मुझे भी अपने आने का प्रयोजन बता देना चाहिए। यह सोचकर वह बोला—'महाराज! मैं भी आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मैं भी आपके मस्तक की सेवा कर रहा था।'

दुर्योधन की आवाज सुनकर कृष्णजी ने उसकी ओर नजर फेरी और कहा—अच्छा, तुम भी आये हो ?

इसके बाद उन्होंने दोनों के आने का प्रयोजन पूछा दोनों ने अपना-अपना प्रयोजन कह सुनाया। कृष्ण ने कहा—दोनों मेरे पास आये हो और मैं दोनों को ही सन्तुष्ट करना चाहता हूँ। देखो, एक ओर मेरी यादवी सेना है और दूसरी ओर अकेला मैं हूँ। इनमें से जिसे तुम चाहो; पसंद कर सकते हो। लेकिन अर्जुन, तुम अभी शान्त रहो। पहले दुर्योधन को माँग लेने दो। दुर्योधन के माँगने से जो शेष रहे, उसी में

तुम संतोष कर लेना।

कृष्ण का कथन सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—युद्ध में सेना की आवश्यकता होती है। वहाँ अकेले कृष्ण क्या काम आएँगे? मुझे सेना माँग लेनी चाहिए। यह सेना पाण्डवों को पराजित करने मे काम आएगी। मेरा भाग्य प्रबल है कि कृष्ण ने पहला अवसर मुझे दिया है। आखिर मेरी शक्ति का प्रभाव इन पर भी पड़ ही गया।

इस प्रकार मन ही मन विचार कर दुर्योधन बोला—आप मुझे यादवी सेना दे दीजिए।

कृष्ण—ठीक है। यादवी सेना तुम्हारे पक्ष में युद्ध करने आएगी।

इसके बाद कृष्ण ने अर्जुन से कहा—तुम्हारे पक्ष में तो मैं रह गया।

अर्जुन की प्रसन्नता का पार नहीं था। उसने कहा—मैं जो सोचता था, वही हुआ।

कृष्ण ने अपनी सेना को दुर्योधन के साथ जाने का आदेश दिया और स्वयं अर्जुन के साथ जाने को तैयार हुए। उन्होंने अर्जुन से कहा—तूने सेना का मोह छोड़कर मुझे खरीद लिया है। मैं तेरे साथ हूँ।

क्या आप लोग भी ईश्वर को खरीदना चाहते हैं? अगर खरीदना चाहते हैं तो बदले में क्या देना चाहते हैं? किस वस्तु का त्याग करना चाहते हैं? मीरा ने कहा है—

माई। मैंने गिरिधर लीनो मोल,
कोई कहे हलको, कोई कहे भारी,
कोई कहे अनतोल ॥ माई० ॥
कोई कहे महंगा, कोई कहे सस्ता,
कोई कहे अनमोल ॥ माई० ॥

जिसे परमात्मा के प्रति प्रीतिभाव है, वह सस्ते और महँगे की चर्चा मे उतरेगा ही नहीं। वह तो उसे खरीद ही लेगा। परमात्मा को खरीदने के लिए क्या मूल्य चुकाना पड़ता है, इस विषय मे कहा है.—

पास न कौड़ी मैंने मुफ्त खुदा को मोल लिया,
ऐसा सौदा किया।

पास में जब एक कौड़ी भी नहीं होती, तभी परमात्मा को खरीदा जा सकता है।

लड़ाई के समय इस प्रकार एक की आज्ञा मे रहना कोई सामान्य बात नहीं है। हम द्रव्य युद्ध को ठीक नहीं समझते और गीता भी उसे ठीक नहीं कहती। लोग गीता को लड़ाई की पुस्तक कहते हैं किन्तु हमारी दृष्टि मे तो उसमे भी अहिंसा का ही निरूपण है। गीता में जिस युद्ध का वर्णन है, वह युद्ध दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृति का युद्ध है। परन्तु इस समय इसकी चर्चा नहीं करना है। यहाँ तो सिर्फ यही बतलाना है कि भौतिक युद्ध में भी अर्जुन ने कहा था--भले समग्र सैन्य या राज्य चला जाय, किन्तु मै कृष्ण को नहीं छोड़ सकता। इसी प्रकार अगर आप परमात्मा को अपने पक्ष में लेना चाहते हैं तो निश्चय कीजिए कि भले सारे संसार की सम्पत्ति चली जाय, परन्तु मैं सत्य का परित्याग नहीं करूँगा। शास्त्र में भी कहा है:—

त सच्चं खु भयवं।

अर्थात्—सत्य ही भगवान् है।

अर्जुन चाहते तो कृष्ण से कह सकते थे कि मैं भी आमंत्रण देने के लिए आया हूँ। आधी सेना मुझे भी मिलनी चाहिए। पर उन्होंने

ऐसा नहीं कहा। अर्जुन ने सेना का त्याग करके कृष्ण को ही अपने पक्ष में लेना श्रेयस्कर समझा। इसी कारण कृष्ण ने अर्जुन से कहा था—हे अर्जुन, तू दैवी सम्पत्ति का भोक्ता है। मैं सोचता था कि संसार में कोई दैवी सम्पत्ति का भोक्ता है या नहीं? पर अब दैवी सम्पत्ति का भोक्ता तू मुझे मिला है तो मैं सारे ससार को तेरे समक्ष उपस्थित कर सकता हूँ।

अर्जुन और कृष्ण की जोड़ी नर-नारायण की जोड़ी कहलाती है। अर्जुन ने नर का और कृष्ण ने नारायण का पक्ष लिया है।

गीता में दैवी सम्पत्ति के लक्षणों में निर्भयता और अहिंसा भी गिनी गई है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि गीता हिंसा की शिक्षा देने वाली पुस्तक नहीं है। अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए दैवी सम्पत्ति के गुणों को अपनाने की आवश्यकता है। केवल बाह्य स्नान से कुछ होता-जाता नहीं, पर ज्ञानयोग से पवित्र होने से ही आत्म-कल्याण होता है। आत्मा को पहचान लेने का फल प्राणी मात्र पर अनुकम्पा रखना है। जब तुम्हारी अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान से आलोकित होगी तो प्राणियों के प्रति स्वतः करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होने लगेगा।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—तूने चतुराई से मुझे अपने पक्ष में ले लिया है, अतएव मैं कहता हूँ कि तू दैवी सम्पत्ति का उपभोक्ता है। दैवी सम्पत्ति आत्मा का अभ्युदय साधन करती है और आसुरी प्रकृति आत्मा के अधःपतन का कारण बनती है।

सारांश यह है कि दैवी सम्पत्ति को अपनाना ईश्वर को ही अपनाना है। फिर उसे चाहे ईश्वर कहो अथवा और कुछ कहो। शब्द का भेद होने पर भी वास्तविक भेद कुछ नहीं है।

मुनि, राजा श्रेणिक से यही बात कह रहे हैं। वे कहते हैं--जो केवल शब्दों को ही पकड़ रखता है और लक्ष्य को नहीं पकड़ता, वह नाथ नहीं बन सकता। नाथ वही बन सकता है जो लक्ष्य को नहीं भूलता। अतएव आपको नाथ बनना है तो सदैव लक्ष्य को अपने सम्मुख रक्खो। कदाचित् आप सनाथ न बन सकें तो सनाथ के सेवक बन कर रहिए तब भी आपका बेड़ा पार हो जाएगा। जैसे रेलगाड़ी के डिब्बों में पावर नहीं होता--एंजिन में होता है। परन्तु जब डिब्बों की सांकल एंजिन के साथ जोड़ दी जाती है तो एंजिन के साथ डिब्बे भी लक्ष्य स्थान तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार अगर आप स्वयं सनाथ नहीं बन सकते तो सनाथ के साथ अपना संबंध जोड़ लो। ऐसा करने से आपको भी वही लाभ होगा जो अनाथ मुनि के साथ संबंध जोड़ने से राजा श्रेणिक को हुआ था।

अनाथ मुनि ने राजा से कहा—राजन्! केवल साधु-दीक्षा लेने मात्र से कोई सनाथ नहीं बन जाता। सनाथ बनने के लिए तो साधु का आचार समीचीन रूप से पालन करना आवश्यक है। जो साधु के आचार का समीचीन रूप से पालन नहीं करता, वह अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

जैनदर्शन मौलिक और परिपूर्ण है, इसीलिए वह साधु के आचार-विचार की रीति स्पष्ट बतलाता है। वह साधु के आचार की कोई बात गुप्त भी नहीं रखता। जो लोग साधु के आचार को दबा कर रखना चाहते हैं और सोचते हैं कि अगर कोई हमारा घर और हमारी रीति-नीति जान जायगा तो हमें उपालंभ देगा, वे भी अनाथ ही हैं। सत्य का आचरण करने वाला और सत्य को प्रकट करने वाला ही सनाथ कहलाता है।

अनाथ मुनि ने कहा—राजन्! जो महाव्रतों को स्वीकार तो कर लेता है किन्तु बराबर उनका पालन नहीं करता, वह अनाथ है। जो महाव्रतों को अङ्गीकार करके भी उनका स्पर्श नहीं करता, वह महाव्रती नहीं कहला सकता।

आप सब यही कहते हैं कि पाँच महाव्रतधारी ही हमारे गुरु हैं। किसी जैन बालक से पूछा जाय तो वह भी यही कहेगा। शास्त्र भी यही कहता है। इस प्रकार जब आप महाव्रतधारी को ही गुरु मानते हैं तो आपको महाव्रत-धारी का लक्षण भी जानना चाहिए। एक उदाहरण द्वारा वह लक्षण बतलाया जाता है—

कल्पना करो, किसी आदमी ने पहले गाय नहीं देखी है। अब वह पहली बार ही गाय को देख रहा है। ऐसी स्थिति मे गाय को देखने पर भी वह कह नहीं सकता कि यह गाय है। गाय को गाय कहने के लिए गाय का लक्षण जानना आवश्यक है। पदार्थ की ठीक ठीक पहचान उसके लक्षण से ही होती है। परन्तु लक्षण दूषित नहीं होना चाहिए। लक्षण ही गलत हुआ तो पदार्थ की पहचान ठीक तरह नहीं हो सकता। मान लीजिए किसी ने कहा—जिस पशु के सींग और पूंछ हों उसे गाय कहते हैं। मगर यह लक्षण सही नहीं है, क्योंकि यह लक्षण तो भैंस में भी पाया जाता है। इस प्रकार जो लक्षण लक्ष्य में रहने के साथ अलक्ष्य (लक्ष्य से भिन्न) में भी रह जाय, वह अति-व्याप्ति दोष से दूषित कहलाता है।

अगर कोई कहे कि जिसका रंग काला हो उसे गाय कहते हैं,* तो यहा अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि यह लक्षण सब गायों में नहीं मिलता। कोई

---

*यद्यपि यहाँ अतिव्याप्ति दोष भी है, पर वह विवक्षित नहीं है।

गाय सफेद और कोई पीली भी होती है।

कदाचित् यह कहा जाय कि जिस पशु के छह पैर होते हैं, उसे गाय कहते हैं, तो यह लक्षण असंभवदोष वाला होगा, क्योंकि छह पैर किसी भी गाय में नहीं पाये जाते।

इस प्रकार लक्षण के तीन दोष हैं। सच्चा लक्षण वही है कि जिसमें इन तीन दोषों में से एक भी दोष न हो। जो लक्ष्य में ही रहे, लक्ष्य के बाहर न रहे और लक्ष्य में पूर्ण रूप से रहे वही निर्दोष लक्षण कहलाता है। इस नियम के अनुसार गाय का लक्षण क्या है? कहना होगा कि जिस पशु के गले में चमड़ी लटकती हो, वह गाय है। उस चमड़ी को गलकंबल कहते हैं और यह गलकंबल प्रत्येक गाय में अवश्य होता है और साथ ही गाय के सिवाय किसी अन्य प्राणी में नहीं होता। इस निर्दोष लक्षण से गाय पहचानी जा सकती है।

इसी प्रकार पाँच महाव्रतधारी को पहचानने के लिए भी कोई लक्षण होना चाहिए, जिससे उनकी पहचान हो सके। पाँच महाव्रतधारी ही गुरु पद का अधिकारी होता है, इस कथन के साथ किसी का मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ देखना यह है कि जो महाव्रतों को स्वीकार करता है वह गुरु है अथवा महाव्रतों का पालन करने वाला गुरु है?

जैन शास्त्र और पातञ्जलयोगदर्शन—दोनों में ही कहा है कि प्रतिपक्षी भावना द्वारा वितर्कों का विनाश करने वाला ही महाव्रतों का पालन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई हिंसा को तो रोकता नहीं और कहता है कि मैं महाव्रतों का पालन करता हूँ, तो उसका यह कथन सत्य नहीं हो सकता। इस प्रकार बातों से महाव्रतों का पालन करने वाले बहुत मिल जाएँगे; ऐसे

लोग भी कम नहीं मिलेंगे जो अपने आपको महाव्रतधारियों से भी बढ़ा-चढ़ा बतलाएँगे। परन्तु सच्चे परीक्षक के सामने ऐसी बातों की कोई कीमत नहीं होती, जैसे रत्नों के परीक्षक कुशल जौहरी के सामने कृत्रिम रत्नों का कुछ भी मूल्य नहीं होता।

सभी लोग पाँच महाव्रतधारियों की परीक्षा नहीं कर सकते। अतएव इस के संबंध में किसी प्रकार की भूल न होजाय, यह बात ध्यान में रखकर शास्त्र में आचार्य, उपाध्याय, गणी और गणावच्छेदक आदि की व्यवस्था की गई है और बतलाया है कि जिनके विषय में आचार्य, उपाध्याय आदि साक्षी दें कि यह महाव्रतों का पालन करते हैं, उन्हीं को महाव्रती मानना चाहिए। इसलिए जिनकी परीक्षा आप नहीं कर सकते हैं, उनके विषय में आपको आचार्य, उपाध्याय आदि की सम्मति मान्य करनी चाहिए। हाँ, अगर आचार्य आदि ही इस विषय में गलत आदेश दें तो वे अपराधी हैं। आचार्य आदि महाव्रतियों की पहचान कराने वाले एजेण्ट हैं। जब आप किसी वस्तु की परीक्षा करके बाजार से स्वयं नहीं खरीद सकते, तब दलाल की मार्फत खरीदते हैं। कोई दलाल खराब चीज को अच्छी कहकर दिलादे तो यह उसका अपराध है। इसी प्रकार कोई आचार्य अगर महाव्रतों का पालन न करने वाले को महाव्रती कहकर पुजवाता है, तो वह अपने उत्तर-दायित्व को विस्मृत करता है और अपराध का पात्र बनता है। महाव्रती न स्वयं हिंसा करता है, न कराता है और न हिंसा करने वाले को अनुमोदन देता है। न असत्य बोलता है, न असत्य बोलवाता है और न बोलने वाले का अनुमोदन करता है। इसी प्रकार चोरी, मैथुन-सेवन और परिग्रह न स्वयं करता है, न कराता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है।

आज कहा जाता है कि अमुक साधु ने शिष्य बनाने के लिए किसी छोकरे को उड़ा लिया, परन्तु शास्त्र कहता है कि साधु बिना आज्ञा लिये एक तिनका भी नहीं ले सकता तो शिष्य बनाने की बात ही दूर रही। अगर कोई ऐसा करता है अर्थात् चोरी से किसी को शिष्य बनाता है तो वह शिष्य चोरी का अपराधी है, ऐसे साधु को नयी दीक्षा लेनी पड़ती है। वह आठवें प्रायश्चित्त का पात्र है।

जब मुझे वैराग्य हुआ तो मेरे मामा को साधुओं के प्रति बहुत नाराजगी हुई। यहाँ तक कि उन्होंने उपाश्रय मे जाना भी छोड़ दिया। एक दिन मेरे गुरु मगनलालजी महाराज भिक्षा के लिए निकले। रास्ते में उन्हें मामाजी मिल गये। महाराज ने उनसे कहा—जड़ावचंद्रजी! आज-कल तो आपने उपाश्रय में आना भी छोड़ दिया।

मामाजी—कैसे आएँ? आपने मेरे भागिनेय को भरमा लिया है। आपने यह भी नहीं सोचा कि वह कितना दुबला है। उससे पैदल विहार किस प्रकार हो सकेगा? और उसके माथे में कितने फोड़े हैं! ऐसी स्थिति में वह केश-लोंच का कष्ट कैसे सहन कर सकेगा?

महाराज—यह सब ठीक है, परन्तु आपको पता है कि हम आज्ञा लिये बिना एक तिनका भी नहीं ले सकते तो आपके भागिनेय को कैसे ले जाएँगे?

दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि अणु या स्थूल, जड़ या चेतन किसी भी वस्तु को जो आज्ञा के बिना नहीं लेता, वही महाव्रतों का पालन करने वाला कहलाता है।

साधु का चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करने

के लिए केवल स्त्रीप्रसंग की ही मनाई नहीं है; किन्तु मन, वचन, काय से स्त्रीप्रसंग करना नहीं, कराना नहीं, करने वाले का अनुमोदन करना नहीं, ऐसा विधान किया गया है। इतना ही नहीं, संसार की समस्त स्त्रियों को—देवागनाओं और अप्सराओं को माता के समान समझना होता है। भगवान् ने इस व्रत की रक्षा के लिए नौ वाड़ और दशवाँ कोट बतलाया है।

इसी प्रकार परिग्रह भी नहीं रखना चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व नहीं होना चाहिए और कोई भी आवश्यक वस्तु अपने पास नहीं रखनी चाहिए। काल के अनुसार अनेक आचार्य मिलकर जो नियम बनाते हैं, वह जिताचार कहलाता है और जिताचार के अनुसार व्यवहार करना भगवान् की ही आज्ञा में माना जाता है। अतएव जिताचार में जिन वस्तुओं को रखने की अनुज्ञा दी गई है, उनसे अधिक कोई भी वस्तु साधु के पास नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ—शास्त्रों में लकड़ी की कामी रखने का विधान नहीं है, किन्तु जब से शास्त्र लिपिबद्ध हुए तब से जिताचार के अनुसार उसे पास रखने की आवश्यकता हो गई है। अतएव जिताचार और शास्त्र में प्ररूपित वस्तुओं के अतिरिक्त कोई भी चीज नहीं रखनी चाहिए, और जो वस्तुएँ रक्खी हैं उनके प्रति ममता न रखना, यह साधुओं का अपरिग्रह व्रत है। साधु, ज्ञान को उत्तेजन दो, इतना तो कह सकता है, परन्तु यह नहीं कह सकता कि ज्ञानप्रचार के लिए पैसे दो।

मान लीजिए, किसी के पास दो शास्त्र हैं। एक शास्त्र को वह स्वयं काम में लाता है और दूसरा काम में नहीं आता। फिर भी शिष्य या और किसी साधु के माँगने पर भी अगर वह नहीं देता तो समझना चाहिए कि उस पर उसका ममत्व है। शास्त्र के भंडार भर रखना और उन्हें कीड़ों

का भक्ष्य बनाना भी ममत्व का ही परिणाम है। अपरिग्रह महाव्रत के पालन के लिए इस प्रकार का ममत्वभाव सर्वथा त्याज्य है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! इस प्रकार महाव्रत की प्रतिपक्षी भावना को जो दूर नहीं करता, वह महाव्रतों का पालन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जो रसगृद्ध है, वह भी अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं—मुनि के दो मार्ग हैं—समिति का मार्ग और गुप्ति का मार्ग। यद्यपि मुनि का लक्ष्य गुप्ति ही है, परन्तु समिति लक्ष्य तक पहुँचाने का साधन है। जो इस साधन का त्याग कर देता है, वह अपने आपको साधुता से दूर रखता है। सच तो यह है कि समितियों का अवलम्बन लिये बिना साधु अपने लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं सकता।

पाच समितियों और तीन गुप्तियों में साधुता की समस्त क्रियाओं का समावेश हो जाता है। जो साधु ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और परिठापनिकासमिति का पालन नहीं करता, वह वीरों के मार्ग पर नहीं चल सकता; वह तो अनाथ के मार्ग पर भटकता है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २४ वें अध्याय में पाच समितियों और तीन गुप्तियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। पाच समितियों मे पहली ईर्यासमिति है। ईर्यासमिति का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विवेक बतलाया गया है। कहा गया है कि साधु जब चलने लगे तो यही विचार करे कि मैंने सब काम छोड़ दिये हैं, इस समय मुझे केवल चलने का ही काम करना है। इस प्रकार विचार कर चलते समय साधु को अपना मन एकाग्र रखना चाहिए। जैसे पानी से परिपूर्ण घट मस्तक पर रख कर पनिहारी

चलते समय सावधानी रखती है, उसी प्रकार मुनि को भी चलते समय सावधानी रखनी चाहिए।

कल्पना कीजिए, राजा का कोई नौकर राजा के काम के लिए बाहर निकला। राजा ने उससे कहा था— काम बहुत आवश्यक है, जल्दी लौट आना।

नौकर जब काम के लिए बाहर निकला तो रास्ते में नाटक हो रहा था। एक नटी हाव-भाव दिखाकर नाच रही थी। नौकर खेल देखना चाहता था। आप वहाँ हों तो नौकर को क्या सलाह दें? यही न कि खेल-तमाशे में न अटक कर पहले मालिक का काम करना चाहिए। परन्तु वह नौकर खेल देखने के लिए रुक गया। इतने में कोई उसका हितैषी आया और उसने कहा—अरे, तू यहा क्यों अटक गया? पहले राजा का काम कर। राजा प्रसन्न हो जायगा तो इस प्रकार का खेल तो तू अपने घर पर ही करा सकता है।

यही बात मुनि के विषय में समझो। मुनियों ने स्वेच्छापूर्वक अपना नाम भगवान् के सेवकों में लिखाया है। उन्होंने किसी की जोर जबर्दस्ती से नहीं, अपनी आन्तरिक इच्छा से ही चारित्र ग्रहण किया है। भगवान् ने साधुओं को आज्ञा दी है कि साधुओं के लिए लक्ष्य तो तीन गुप्तिया ही हैं; किन्तु उन्हें समितियों की किंचित् भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। भगवान् की इस आज्ञा के अनुसार मुनि गुप्तियों और समितियों का पालन करने को तैयार हुए हैं। किन्तु अगर हम मुनि इस आज्ञा की उपेक्षा करके नाटक की तरह संसार के झंझट में पड़ जाएँ तो आप हमारे हितैषी होकर हमें क्या सलाह देंगे? हम ईर्यासमिति का ध्यान न रक्खें तो आप हमसे क्या

कहेंगे ? यही तो कहोगे कि छलांगें भरते क्यों चलते हो ? इधर-उधर नजर फिराते क्यों चलते हो ? क्या साधु इस प्रकार चल सकता है ? क्या आप हमसे यही नहीं कहेंगे ? भले ही आप विनय और नम्रता के साथ कहेंगे, मगर हमारे हितैषी होने के नाते यह तो कहेंगे ही कि—'आप भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हुए हैं, अतएव मन को एकाग्र करके ईर्यासमिति का ध्यान रखते हुए यतनापूर्वक चलिए।'

सेठ अमरचंदजी (पीतलिया) समितियों का इतना ध्यान रखते थे कि वे देखते ही जान लेते थे कि अमुक साधु ईर्यासमिति और भाषासमिति का ज्ञाता और पालनकर्त्ता है या नहीं ? उन्हें किसी भी प्रकार की त्रुटि दिखाई देती तो वे स्पष्ट कह देते थे।

एक बार पूज्य श्रीलालजी महाराज विहार करते-करते जा रहे थे। रास्ते में उन्हें महासती मोताजी मिलीं। उनकी ईर्यासमिति देखकर पूज्यश्री अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—महासतीजी ईर्यासमिति का बराबर ध्यान रखती हैं।

जैसे सेना का अपना एक निशान होता है, उसी प्रकार ईर्यासमिति साधुओं का चिह्न है अतः साधुओं-साध्वियों को ईर्यासमिति का खूब ध्यान रखना चाहिए। उन्हें सदैव खयाल रखना चाहिए कि हम संसार की धमाल देखने में या किसी के साथ बातें करने में ईर्यासमिति की अवहेलना न कर बैठें। अगर हम संसार की धमाल देखने में न पड़ें और भगवान् की आज्ञा को यथावत् पालने का ही ध्यान रक्खें तो, राजा की आज्ञा का पालन करने से नौकर को जितना लाभ होता है, उससे भी अधिक लाभ हमें होगा।

आजकल प्राय' देखा जाता है कि कोई साधुओं से कुछ कहता है तो वे उलटे दबाने लगते हैं। साधु की भूल बतलाने पर साधु उसे स्वीकार करके प्रतिक्रमण करले और शुद्ध हो जाय और साथ ही भविष्य में ऐसी भूल न करने का ध्यान रक्खे तो ठीक है, किन्तु अगर कोई साधु कहे—'हम साधुओं से कहने वाले तुम कौन होते हो ?' और यह कह कर नाराज हो जाय तो समझना चाहिए कि वह साधु सुधर नहीं सकता। शास्त्र में कहा है कि साधु को अगर कोई व्यक्त घर में पानी भरने वाली दासी भी शिक्षा दे तो उसे भी स्वीकार करना चाहिए, उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। उससे भी नहीं कहना चाहिए कि 'तू हमसे कहने वाली कौन है ?'

कहा जा सकता है कि अगर साधु ईर्यासमिति का ध्यान न रक्खे और कहना भी न माने तो ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? साधुओं के बिना काम भी तो नहीं चल सकता ! इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर आप अपनी आत्मा को शुद्ध रक्खें और दृढ़ता का परित्याग न करें तो साधुओं को रास्ते पर आना ही पडेगा। तुम किसी साधु को सावधान करो और वह तुम्हारा कहना न माने तो तुम्हें समझ लेना चाहिए कि यह साधु ईर्या-भाषासमिति का परिपालन करने वाला नहीं है; किन्तु अनाथता मे पड़ा है। इस प्रकार तुम अपनी आत्मा को दृढ़ रक्खो तो साधुओं को सुधरने के सिवाय और कोई मार्ग ही नहीं है।

दूसरी भाषासमिति है। दूसरे को व्यथा पहुचाने वाली कटु अथवा सावद्य भाषा बोलने का मुनि को अधिकार नहीं है। आज साधुओं में भाषा संबंधी विवेक बहुत कम देखा जाता है। साधुओं के लेख देखो तो उनकी भाषा से जानना कठिन होगा कि यह लेख साधु का है या गृहस्थ का !

कदाचित् कहा जाय कि मुनि का आशय पवित्र होता है तो क्या गृहस्थ का आशय पवित्र नहीं होता ? आशय भले पवित्र हो, फिर भी भाषा संबंधी विवेक तो होना ही चाहिए। श्री दशवैकालिक-सूत्र, श्री आचारांग-सूत्र और श्री पन्नवणा सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है कि साधुओं को कैसी भाषा बोलनी चाहिए और कैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए ?

साधु-भाषासमिति का ज्ञाता हो तो अपने संयम की रक्षा करने के साथ संसार का सुधार भी कर सकता है। उदाहरणार्थ कोई कहे कि साधु विवाह पद्धति में सुधार कर सकता है या नहीं ? साधारणतया यही कहा जायगा कि विवाह से साधुओं का क्या सरोकार ? परन्तु जानकार साधु विवाह-पद्धति का सुधार करने के लिए तुम्हारे सामने मेघकुमार जैसे का चरित उपस्थित करेगा, जिससे कि विवाहपद्धति में सुधार किया जा सके। मेघकुमार के चरित में 'सरिसवया, सरिसतया' आदि का जो उल्लेख पाया जाता है और इन उल्लेखों द्वारा जो विवाह पद्धति निर्दिष्ट की गई है, उसे समझा कर साधु क्या विवाह पद्धति में सुधार नहीं कर सकता ? विवाह पद्धति की ही तरह गर्भ-क्रिया के विषय में भी सुधार किया जा सकता है। इसके लिए भी किसी का चरित उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु साधु को यह नहीं भूलना चाहिए कि उसे अपने संयम की रक्षा करनी है! अतएव उसकी भाषा में किसी प्रकार का दूषण न आ जाय। साधु को ध्यान रखना चाहिए कि—मैं संसार के प्रवाह में न बह जाऊँ, वरन् संसार से पार उतर सकूँ।

अभिप्राय यह है कि शास्त्र, साधु को बोलने की मनाई नहीं करता, परन्तु विवेक-पूर्वक बोलने के लिए कहता है।

तीसरी एषणासमिति है। साधुओं को इस समिति का पालन करने में

भी बहुत ध्यान रखना चाहिए । एषणासमिति का धारक मुनि जैसी निर्दोष वस्तु मिले वही ले लेता है । जिन्होंने भक्ति कराने के लिए, पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से माथा मुंडाया है, उनकी बात तो छोड़ ही दीजिये, किन्तु जिन्हें साधु-धर्म का पालन करना है, उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् ने एषणा संबंधी जो नियम बतलाये हैं, वे व्यर्थ नहीं हैं । आत्मा सुख का अभिलाषी है और सदा सुख की ही खोज करता है । किन्तु सुख पाने की इच्छा का त्याग करके साधु को इसी बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कहीं साधु-धर्म से च्युत न हो जाएँ ।

शास्त्र यों तो बहुत गहन है, किन्तु साथ ही वह ऐसी सरल और लाभप्रद बातें सरलता से समझाता है कि साधारण से साधारण मनुष्य को भी समझने में कठिनाई नहीं होती । दशवैकालिक सूत्र में कहा है:—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगायसाइस्स ।
उच्छोलणायहोअस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥

जो श्रमण सदैव सुख के पीछे पड़ा रहता है, इसमें सुख मिले, यहां आराम मिले, इस प्रकार सोचा करता है और अनेक चालें चलता रहता है कि लोगों की भक्ति भी कम न हो जाय और सुख का मार्ग भी बंद न हो जाय, भगवान् कहते हैं कि ऐसा साधु, धर्म की अवहेलना करने वाला है । वह इस लोक में भी सुन्दर परिणाम नहीं ला सकता और परलोक में भी अच्छा काम नहीं पा सकता ।

जिसकी आत्मा अपने वश में नहीं है और जो रसलोलुप है, वह एषणासमिति को भंग करता है । किन्तु उचित मार्ग यह है कि जिससे एषणासमिति का बराबर पालन न होता हो उसे साफ कहना चाहिए कि

मेरी यह अपूर्णता है कि मै इस समिति का ठीक तरह पालन नहीं कर सकता। ऐसा कहने से उस की अपूर्णता प्रकट होगी, किन्तु सिद्धान्त का तो विरोध नहीं होगा, इसके विपरीत जो अपनी अपूर्णता छिपाता है और एषणा को पाखण्ड कहता है, वह निर्ग्रन्थप्रवचन की अवहेलना करता है। ऐसे श्रमण को सद्गति मिलना कठिन है।

सुखशील बनकर मौज करना और मौज करने के कार्य को भी उज्वल नाम देना और भावुक भक्तों की श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाना साधुओं का धर्म नहीं है। साधुओं का धर्म तो यह है कि वह स्पष्ट कह दे कि शास्त्र का विधान तो ऐसा है, परन्तु मैं अपनी अपूर्णता के कारण उसका पालन करने में असमर्थ हूँ। जो पूर्ण रूप से एषणासमिति का पालन करता है उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

एषणासमिति का बराबर पालन करने वाला महात्मा ही स्व पर का कल्याण कर सकता है। जो साधु इस प्रकार अपनी अपूर्णता को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है और शास्त्र की अपूर्णता नहीं बतलाता, शास्त्र उसकी उतनी निन्दा नहीं करता जितनी शास्त्र विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले की निन्दा करता है। जो लोग संयम का शास्त्रोक्त रीति से पालन नहीं करते, और अपनी अपूर्णता स्वीकार करते हैं, वे किसी न किसी दिन तो संयम का पालन कर सकेंगे और अपनी अपूर्णता दूर कर सकेंगे, किन्तु जो अपनी अपूर्णता ही नहीं मानता उसका सुधार होना कठिन है।

चौथी आदान-निक्षेपणसमिति है। साधुओं को इसका भी ध्यान रखना और पालन करना चाहिए। भंडोपकरणों को यतना से धरना उठाना चाहिए। प्रथम तो साधु को धर्मोपकरण के सिवाय और कोई वस्तु अपने

पास रखनी ही नहीं चाहिए, और जो धर्मोपकरण हैं उनके रखने-उठाने में भी बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

पाँचवीं उच्चारप्रस्रवणसमिति का पालन करने में भी साधु को यतनावान् होना चाहिए। मल-मूत्र आदि को इस प्रकार परठना चाहिए कि जिससे लोगों को जुगुप्सा न हो। जो आहार करता है, उसे निहार करना ही पड़ता है, किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निहार किस प्रकार किया जाय और कहाँ किया जाय ?

मैं जंगल जाते-आते समय म्यूनिसिपैलिटी की कचरा की गाड़ियाँ, जो सामने पड़ जाती हैं, देखता हूँ, उनमें से दुर्गन्ध फूटती है; किन्तु ज़रा विचार कीजिए कि उनमें वह दुर्गन्ध कहाँ से आई ? आप लोगों ने अपने-अपने घर में जो गंदगी की, वही उस गाड़ी में आई। आप गंदगी साफ करने वाले लोगों की निन्दा करते हैं, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं, नीचा समझते हैं और अपने आपको ऊंचा मानते हैं, किन्तु विचारने योग्य बात है कि गंदगी फैलाने वाले ऊँचे और गंदगी की सफाई करने वाले नीचे, यह किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

शास्त्र में साधुओं को चेतावनी दी गई है कि जब तुम जंगल जाओ तो कैसी जगह देखनी चाहिए ? जिस ग्राम में तुम्हें चातुर्मास करना है, वहाँ जंगल जाने की जगह पहले देख लो अगर उपयुक्त जगह न दिखाई दे तो समिति का सम्यक् प्रकार से पालन न हो सकने के कारण वहाँ चौमासा करने से इन्कार कर दो। इस प्रकार समिति की रक्षा के लिए दूसरे ग्राम में चातुर्मास करने वाला साधु आराधक है। इससे विपरीत यह सोच कर कि, शहरों में तो यों ही धमाल रहती है, समिति की उपेक्षा करने वाला विराधक है।

पाँचवीं समिति का पालन करने का साधुओं को बहुत ध्यान रखना चाहिए। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि समिति का पालन तो ग्राम में रहकर ही किया जा सकता है, नगर में रहने वाले साधु नहीं कर सकते। समिति तो ग्रामों में रहने वाले साधुओं का आचार है। शहर में रहने वाले साधुओं से समिति का यथावत् पालन नहीं हो सकता। इस कथन का अर्थ तो यह हुआ कि नगर में विचरने वाले साधुओं का शास्त्र अलग और ग्रामों में विचरने वाले साधुओं का शास्त्र अलग होना चाहिए।

कई लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का बहाना करके समिति की उपेक्षा करते हैं उनके अनुसार महाव्रतों का पालन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख-देखकर करना चाहिए। परन्तु जो लोग इस प्रकार बच निकलने का रास्ता खोजते हैं, वे शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। जो शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं, वे धीर-वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाला शास्त्र के मार्ग पर चलता है।

कोई कह सकता है—शास्त्रों की रचना हजारों वर्ष पहले हुई है, आज बदली हुई परिस्थितियों में उनके अनुसार किस प्रकार चला जा सकता है? और ऐसा कहकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्र विरुद्ध व्यवहार करता है, वह भी वीरों के मार्ग पर नहीं चलता। शास्त्र तो त्रिकालज्ञ द्वारा कथित है। उन्हें वर्त्तमान का— आज की परिस्थितियों का, ज्ञान नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करता है, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की कहावत के अनुसार पतित हो जाता है।

नगरों की रचना से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ है। यही नहीं,

बल्कि हानि हुई है। यूरोप के लोग भी यह मानने लगे हैं कि बहुत लोगों के एकत्र होकर रहने में अनेक हानियाँ हैं। शरीर में रक्त यथास्थान न रह कर एक जगह इकट्ठा हो जाय तो व्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार ग्राम उजड़-उजड़ कर नगर बस रहे हैं और इससे अनेक हानियां उत्पन्न हो गई हैं।

विचारणीय बात है कि नागरिक लोग ग्रामों के सहारे जीवित हैं या ग्रामीण लोग शहर पर निर्भर हैं? दूध, घी और अन्न आदि कहाँ से आता है? ग्राम न होते तो क्या शहरों में दूध, घी आदि पदार्थ आवश्यक परिमाण में उपलब्ध हो सकते थे? शहरों में तरह-तरह के खिलौने मिल सकते हैं, मगर जीवन की आवश्यक वस्तुएँ तो ग्रामों में ही मिलती हैं। शहरों में जो घी-दूध आदि मिलता है, नकली मिलता है। चरबी का घी कहाँ मिलता है। नगरों में या ग्रामों में? नगर के लोग अकसर ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, जिनसे जीवन में और अधिक सकट उत्पन्न होता है। जिदगी को टिकाये रखने वाली वस्तुएँ ग्रामों मे ही उत्पन्न होती हैं। अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थ ग्रामों में ही पैदा होते हैं। अतएव नगरनिवासियों को ग्रामवासियों का उपकार मानना चाहिए।

हाँ, तो अभिप्राय यह है कि नगर के मनोमोहक वायु-मडल से आकर्षित न होकर साधुओं को ऐसे स्थानों में ही विचरण करना चाहिए, जहाँ उनकी समिति मे बाधा न आती हो। जिस स्थान पर रहने से चरित्र में बाधा हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए। ऐसा करने पर ही साधु पुनः अनाथता में पड़ने से बच सकता है।

अनाथ मुनि कहते हैं - पहले पहल मनुष्य अनाथ होकर भटकते हैं।

सौभाग्य से जब उन्हें अनाथता से निकल कर नाथ बनने का अवसर मिलता है तो उनमें से कई लोग कायरता के वशीभूत होकर पुनः अनाथ बन जाते हैं। वस्तुतः आत्मतत्त्व को आत्मा में स्थिर रखना बहुत ही कठिन है। परन्तु जो इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करता है, वही निहाल हो जाता है।

आज विकारी लोगों को देखकर सभी को विकारी समझ लिया जाता है। कतिपय साधुओं को साधुता से पतित देखकर सब साधुओं की निन्दा की जाती है मगर ऐसा करना भूल है। विश्वविद्यालय कि परीक्षा देने वालों में से क्या सभी उत्तीर्ण हो जाते हैं? कोई अनुत्तीर्ण नहीं होते? लेकिन विद्यार्थियों के अनुत्तीर्ण होने से क्या विश्वविद्यालय या दूसरे विद्यालय बंद कर दिये जाते हैं? नहीं, क्योंकि जो पढ़ता है वह भूलता भी है।

साधुता भी भगवान् अरिहन्त का एक विश्वविद्यालय है। इसमें अभ्यास करने वालों में से कोई भूलता भी है और कोई अनुत्तीर्ण भी होता है। पर शास्त्र, भूलने एवं अनुत्तीर्ण होने वालों को ठीक नहीं समझता; उनकी निन्दा करता है ऐसी स्थिति में अनुत्तीर्ण होने वालों को लेकर साधुता की शाला की ही निन्दा करना या इस शाला में अभ्यास करने वाले सब लोगों को बुरा समझना कैसे ठीक कहा जा सकता है? यद्यपि अभ्यास करने वालों से भूल भी होती है, तथापि साधुओं को सावधान रहना चाहिए। यह तो व्यवहार की बात है, इसमें क्या पड़ा है? ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि हम अभी व्यवहार में ही हैं, वीतराग नहीं हुए हैं। भगवान् भी व्यवहार द्वारा ही निश्चय में गये थे। अतएव व्यवहार की अवहेलना करना उचित नहीं। व्यवहार का पालन करके निश्चय में जाना ही अनाथता में से निकल कर सनाथ बनना है।

अभ्यास करने वाला विद्यार्थी भूल जाय तो क्षम्य हो सकता है, परन्तु शिक्षक ही भूल जाय तब तो गजब ही हो जाय। इसी प्रकार दूसरे भूलें तो भूलें, पर जिन्होंने महापुरुषों की सूची में अपना नाम लिखवाया है, उन्हें नहीं भूलना चाहिए। उन्हें तो बहुत सावधानी रखनी चाहिए और सावधानी रखते भी भूल हो जाय तो उस भूल को भूल मान कर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! जो लोग साधु होकर फिर अनाथ बन जाते हैं, वे वीर के मार्ग पर चलने वाले नहीं हैं। प्रश्न होता है—मुनि ने ऐसा क्यों कहा? कई लोगों का कहना है कि साधु का आचार गृहस्थ से नहीं कहना चाहिए। गृहस्थ के सामने साधु का आचार कहने की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु आप लोग साधारण गृहस्थ नहीं हैं, श्रमणोपासक हैं। अतएव आपको अपने उपास्य का लक्षण समझना चाहिए। मुनि, राजा श्रेणिक को सम्बोधन करके समस्त संसार को समझा रहे हैं कि साधुओं को धीर-वीर पुरुष का मार्ग अपनी दृष्टि के समक्ष रखना चाहिए। नाम त्यागियों में लिखाना और काम त्यागियों का न करना उचित नहीं है।

कायरों के मार्ग पर चलने वाला कौन है? इस सम्बंध में अनाथ मुनि कहते हैं कि जो समितियों आदि का ध्यान नहीं रखता वह कायरों के मार्ग पर चलने वाला है।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजा, कायर लोग इन पाच समिति के पालन में असावधानी रखते हैं। कार्य का अभ्यास करने मे गल्ती होना दूसरी बात है। किसी वीर से यदि इस प्रकार गल्ती हो भी जावे, तो वह अपनी गल्ती निकालने की चेष्टा करेगा और भविष्य मे सावधानी रखेगा। अभ्यास में

गल्ती होने मात्र से कोई साधु, कायर नहीं कहलाता। क्योंकि, छद्मस्थ अपूर्ण है लेकिन बहुत से लोग, जानबूझ कर पाँच समिति की अवहेलना करते हैं, समिति की उपेक्षा करते हैं और दिन प्रति दिन इस ओर से पतित होते जाते हैं। ऐसा करने वाले कायर लोग, वीर-मार्ग के पथिक और पञ्च महाव्रत के पूर्ण आराधक नहीं हैं। यद्यपि कायर लोग, समितियाँ न पालने में, पंच महाव्रत का भङ्ग नहीं समझते, लेकिन वास्तव में, पंच महाव्रत भङ्ग हो जाते हैं। क्योंकि, पंच महाव्रत का सूक्ष्म रूप से पालन तभी सम्भव है, जब पांचों समिति का भली प्रकार पालन किया जावे। यद्यपि पंच महाव्रत एवं पंच-समिति का पूर्णतया पालन तो, यथाख्यात-चारित्रवाला ही कर सकता है, लेकिन इस ओर गति करना, प्रमाद न करना, प्रत्येक साधु का कर्त्तव्य है। अपने इस कर्त्तव्य को समझ कर, जो साधु सावधानी रखता है, उससे यदि कभी कोई गल्ती हो भी जावे, तो वह पतित नहीं कहलाता। पतित तो तभी कहलाता है, जब जानबूझ कर उपेक्षा की जावे और जो गल्ती हुई है, उसे सुधारने की चेष्टा करने के बदले और बढ़ने दे।

हे मुनियों! तुम्हारा पद, चक्रवर्ती राजाओं एवं देवताओं से भी बड़ा है। देवता लोग, चक्रवर्ती के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाते, लेकिन तुम्हारे आगे अपना मस्तक झुकाते हैं। चक्रवर्ती राजा भी, तुम्हारे दर्शन को लालायित रहता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद को पाकर भी, पाँच समिति के पालन में सावधानी न रखने पर, तुम्हारी गणना, कायरों एवं पतितों में होगी। इस के साथ ही, जिस उद्देश्य से तुमने घर-बार छोड़ा है, जिस ध्येय को लेकर सांसारिक सुख त्याग, संयम में प्रवर्जित हुए हो, समिति पालन में असावधानी रखने पर, उसकी भी पूर्ति नहीं होगी। तुम्हारे पद की प्रतिष्ठा, तुम्हारे ध्येय

की पूर्ति, एवं गृह-ससार छोड़ने से लाभ, तभी है, जब तुम पंच महाव्रत के साथ ही पञ्च समिति के पालन में सावधानी रखो। यदि तुम से कोई गल्ती भी हो जावे, तो उसका प्रतिशोधन करो, लेकिन उसे बढ़ने मत दो। पहाड़ पर से एक पाव फिसला और दूसरे पाव से उसी समय सम्हल गया, तब तो गिरने से रुक जाता है, और यदि दूसरे पाव को भी ढील दे दी, तो लुढ़कता हुआ नीचे ही चला जाता है। इसी प्रकार, पाँच समिति के पालन में कोई गल्ती हो जावे और उसी समय अपनी गल्ती को मान कर, भविष्य के लिए सम्हल जाओगे, तब तो तुम्हारी गणना कायरों में न होगी। तुम दूसरी अनाथता में न पड़ोगे, अन्यथा, सनाथी मुनि के कथनानुसार तुम कायर एवं अनाथ के अनाथ ही माने जाओगे। तुम्हारे लिए, इससे अधिक लज्जा की बात क्या होगी? इसलिए पंच महाव्रत एवं पंच-समिति के पालन में, किंचित् भी असावधानी या प्रमाद मत करो। एक कदम आगे बढाने वाला, वीर माना जाता है और एक कदम पीछे हटाने वाला, कायर माना जाता है। तुम अधिक आगे न बढ सको तब भी, पीछे तो कदम मत हटाओ। यानी तुमने जिस चरित्र को स्वीकार किया है,उस के पालन में, तो प्रमाद मत करो। तुम्हें समिति गुप्ति के पालन में, किस प्रकार एकाग्रचित्त रहना चाहिए, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक पराधी, शिकार की ताक लगाये बैठा था। उसके पास होकर एक बारात निकली। थोड़ी ही देर बाद, उसी बारात के कुछ आदमियों ने पारधी के पास आकर, पारधी से पूछा, कि क्या इस तरफ से बारात निकली है? पारधी ने उत्तर दिया—कि मैंने नहीं देखी। उनने पूछा तुम यहां कितनी देर से हो? पारधी ने उत्तर दिया—सुबह से। उन लोगों ने कहा कि जब

तुम यहाँ सुबह से हो, तो तुमने बारात अवश्य ही देखी होगी। क्योंकि उस बारात के जाने का मार्ग यही था। पारधी ने उत्तर दिया — कि यदि गई भी हो तो मुझे पता नहीं। मैं, शिकार की ताक में बैठा था, बारात की ओर ध्यान क्यों देने लगा ?

हे मुनियो। वह पारधी, रुद्रध्यान में था। उस ध्यान से उसे हिंसा करनी अभीष्ट थी। उस रुद्रध्यान में भी, वह ऐसा एकाग्रचित्त रहा, कि उसे पास से गाती बजाती हुई बारात निकल जाने की भी खबर न हुई, तो तुम्हें धर्मध्यान में अपना चित्त कैसा एकाग्र रखना चाहिए। इसका विचार करो।

चिरंपि से मुण्डरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे।
चिरंपि अप्पाण किलेसइत्ता; न पारए होइ हु संपराए ॥४१॥

अर्थ—अपने-स्वीकृत व्रतों मे स्थिर न रहने वाला और तप तथा नियम से भ्रष्ट हो जाने वाला चाहे चिरकाल तक सिर मुंडित रक्खे और आत्मा को क्लेश मे डालता रहे, फिर भी संसार से पार नहीं होता।

व्याख्यान—अनाथ मुनि, राजा श्रेणिक से कहते हैं—राजन्! जो सिर मुंडाता है और कष्ट सहन करता है, किन्तु समितियों का पालन नहीं करता और व्रतों में अस्थिर होकर तप-नियमों से भ्रष्ट हो जाता है, वह कष्टों को सहन करता हुआ भी संसार-सागर का पार नहीं पाता। वह सनाथ नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है—जब वह व्रत, तप एवं नियम का पालन करने में अस्थिर रहता है तो फिर मस्तक क्यों मुंडाता है ? इसका उत्तर यह है कि वह व्रत-नियम आदि का पालन न करके भी लोगों को अपने आगे

नमाने के लिए और अपनी महिमा बढाने के लिए मस्तक मुंड़ाता है। यह उसकी एक प्रकार की चालबाजी है। आजकल प्रायः देखा जाता है कि चालबाजी करने वाला दुकानदार अपनी दुकान का भपका अधिक रखता है। पूज्य श्रीलालजी कहा करते थे—दुनिया को ठगने वाले लोग यह कहावत चरितार्थ करते हैं—

रोटी खाना शक्कर से,
दुनिया ठगना मक्कर से।

इस प्रकार कई लोग अपनी महिमा बढाने के लिए मस्तक मुंडाते हैं और लोगों को ठगते हैं। ऐसे ठग तप-नियमों की अवहेलना करते हैं और कहते हैं—उपवास करना भूखा मरने के समान है। उपवास करने में रक्खा ही क्या है! वे व्रतों और नियमों के विषय में भी यही कहते हैं कि व्रतों और नियमों से कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार व्रत नियम आदि को कष्टकर एव व्यर्थ समझते हुए भी वे लोग अपनी महिमा बढाने के लिए साधु वेष धारण करते हैं और सिर मुडाते हैं। ऐसे लोगों को सद्गति दुर्लभ है।

कहा जा सकता है कि संसार के समस्त जीव सुख-साता चाहते हैं तो फिर सुख-साता की इच्छा करने वाले साधु की ही टीका-टिप्पणी क्यों की जाती है? इसका उत्तर यह है कि यदि वह साधु संयम का बराबर पालन करे तो उसे अपूर्व सुख-साता की प्राप्ति होगी। शास्त्र में कहा है कि एक महीने का दीक्षित साधु व्यन्तर देवों के सुख को मात कर देता है और एक वर्ष का दीक्षित साधु सर्वार्थसिद्ध विमान के सुख को लांघ जाता है। ऐसा होने पर भी जो साधु उस सुख को भूल जाता है और सांसारिक

सुख-साता में पड़ जाता है, वह अपनी ही हानि करता है।

किसी डाक्टर ने बीमार को दवा देकर कहा—अमुक काल तक दवा का सेवन करना और इन-इन चीजों का परहेज रखना। बीमार अगर डाक्टर के कथनानुसार नियमित रूप से औषध का सेवन करे और पथ्य का पालन करे तो उसका रोग चला जाता है और वह स्वस्थ होकर सभी चीजों को खाने-पीने के योग्य बन जाता है। और यदि रोगी औषध का सेवन न करे और खान-पान में परहेज न रक्खे तो डाक्टर उसके लिए क्या कहेगा? यही न कि इसने मेरी दवा की अवहेलना की है!

इसी प्रकार महात्मा कहते हैं—'हे मुनियों! तुम संयम का बराबर पालन करो और कष्टों को सहन करो तो तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। अगर संयम का यथावत् पालन न करोगे तो डाक्टर की दवा के समान संयम को भी व्यर्थ गँवा देना होगा।' इसी प्रकार वे कहते हैं—'जो सुख-साता का गवेषक है, अर्थात् सुखशील बनकर हाथ पैर धोने में लगा रहता है और संयम का पालन नहीं करता, वह धर्म रूपी औषध को वृथा गँवा बैठता है। साधुओं! तुम्हें किसी ने जबर्दस्ती करके साधु नहीं बनाया है। स्वयं उच्च भावना से प्रेरित होकर तुम साधु बने हो। अतएव साधुता का यथावत् पालन करके अपना और जगत् का कल्याण करो। संयम के पालन में ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण है।'

केवल केश-लोच आदि बाह्य क्रिया करने से कोई जन्म मरण से मुक्त नहीं हो सकता। जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, संसार के समस्त कष्टों से छूटने के लिए और आत्मा को निरुपद्रव सनाथ बनाने के लिए आवश्यक है कि संयम ग्रहण करते समय लिये गये व्रत नियम आदि में

प्रमाद न करे, बल्कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ, सावधान और सतर्क रह कर उनका पालन करे ।

केश-लोंच करने में कितना कष्ट होता है, यह जानने के लिए अगर आप अपने मस्तक का एक केश उखाड़ देखें तो आप को अनुभव हो जाएगा। इस प्रकार का कष्ट सहन करने पर भी व्रत-नियम का पालन न किया जाय तो ससार को पार नहीं किया जा सकता ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि केशोत्पाटन करने से कष्ट भी होता है और मस्तिष्क की शक्ति को हानि भी पहुचती है। ऐसी स्थिति में उस्तरे से सिर क्यो न मुंडवा लिया जाय ? मैं जब छोटा था तो बदनावर ग्राम मे एक मुसलमान ने ऐसा ही प्रश्न किया था। उसने कहा था—जब आपका धर्म दयामय है तो केशों का लोंच करने से क्या हिंसा नहीं होती ? जिसका केश-लोंच किया जाता है, उसे कष्ट होता है अत. यह हिंसा का कार्य है।

इस प्रश्न को सुनकर मैने उससे प्रश्न किया—तुम हजामत क्यों करवाते हो ? अच्छे दीखने के लिए ही तो ? हजामत कराते-कराते नाई की असावधानी से कभी कभी चमड़ी कट जाती है और रक्त निकल आता है और कष्ट होता है। फिर भी अपनी शौक के लिए तुम उस कष्ट से नहीं डरते और हजामत करवाते हो। मगर अपनी कायरता के कारण केश-लुंचन में हिंसा होने की बात कहते हो। तुम तो शौक के लिए इतनी तकलीफ सह लेते हो और हम धर्म के लिए सहते हैं, इसमें हिंसा की बात कहते हो। वास्तव में हम केशलुंचन मे कष्ट नहीं मानते। हाँ, केश खींचते समय थोड़ा सा कष्ट जान पड़ता है, लेकिन हम उसे प्रसन्नता-

पूर्वक सहन कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि तुम हजामत का कष्ट सहन कर लेते हो।

रह गई मस्तक को हानि पहुँचने की बात। सो अगर केश-लोंच से मस्तक को हानि पहुचती तो भगवान् कदापि यह मार्ग न बतलाते। यही नहीं, मेरा अनुभव तो यह है कि केशलोंच के पश्चात् यदि बादाम आदि का तेल मला जाय तो मस्तक की शक्ति और आखों की ज्योति बढती है।

उस्तरा से बाल बनवाने पर बाल ज्यादा बढ़ते हैं, परन्तु भगवान् ने केशलोंच का ऐसा उपाय बतलाया है कि जिससे धीरे-धीरे केशों का उगना ही बंद हो जाता है।

केशलोंच करने से कष्ट होता है, मगर उघाड़े पैर चलने से भी तो कष्ट होता है। तो जैसे केशलोंच के कष्ट से बचने के लिए उस्तरा रखने की आवश्यक्ता अनुभव की जाती है, उसी प्रकार पैरों को कष्ट से बचाने के लिए पालकी की भी आवश्यकता पड़ेगी। इसी प्रकार शील का पालन करने में भी कष्ट भोगने पड़ते हैं। उन कष्टों से बचने के लिए स्त्री की आवश्यक्ता अनुभव की जायगी। इस प्रकार कष्ट से बचने के लिए छूट ली जायगी तो धीरे धीरे दीक्षा का ही उच्छेद हो जायगा।

इन्द्र ने नमिराज से कहा था—क्यों धर्म के पीछे पड़े हो? देखते नहीं रनवास में कितना रुदन हो रहा है। हिंसा का कैसा पाप हो रहा है। फिर आप इस पाप को क्यों दूर नहीं करते?

इस प्रश्न के उत्तर में नमिराज ने कहा था—मेरी दीक्षा के कारण कोई नहीं रो रहा है; सब अपने अपने स्वार्थ के लिए रो रहे हैं। दीक्षा लेने से पहले तो मैं दूसरों को दंड भी देता था और हाथ में तलवार लेकर

दूसरों को भयभीत भी करता था, मगर दीक्षा लेने के बाद अगर कोई मेरे सामने तलवार लेकर आ जाय तो मै आँख भी लाल नहीं करूँगा। ऐसा करने पर मैं संयम से गिर जाऊँ। इस प्रकार ये सब मेरी दीक्षा के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए रोते हैं।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अहिंसा को आगे किया जाय तो दीक्षा का ही उच्छेद हो जाय। साधुओं के लिए वर्ष में एक बार केश-लोंच करना अनिवार्य है, यों कोई-कोई तीन बार और कोई-कोई चार बार केश-लोंच करते हैं। केश-लोंच करते समय कोई-काई साधु स्वाध्याय भी करते जाते हैं और प्रसन्नता पूर्वक केश-लोंच करते हैं। परन्तु आज लोगों में कायरता आ गई है और इसी कारण दया के नाम पर इस प्रकार का प्रश्न किया जाता है।

अहिंसा की रक्षा के लिए ही साधुओं को केश-लोच करना आवश्यक बतलाया गया है। भगवान् का कथन है कि मस्तक पर केश रहेंगे तो जीवों की उत्पत्ति भी होगी और अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकेगा। अहिंसा की दृष्टि से केश-लोंच का विधान न किया गया होता तो बाल सँवारने और तेल मालिश करने आदि की प्रवृत्ति भी बढ़ गई होती। इसी से भगवान् ने यह उपाय बतलाया है। अगर उस्तरा से बाल बनाने का विधान कर दिया जाता तो उस्तरे के साथ काच भी रखना पड़ता, तेल भी रखना पड़ता और इस प्रकार आरंभ की प्रवृत्ति बढ़ जाती। धीरे-धीरे साधु अपने ध्येय से विलग हो जाते।

मुनि कहते हैं - साधुओ! अगर तुम तप-नियम की आराधना न करोगे तो शास्त्र तुम्हें अनाथ की कोटि मे रखता है। इस दशा मे तुम

साधु नहीं हो। चारित्रनिष्ठ बने बिना केवल सिर मुंडा लेने या केश-लोच कर लेने से संसार को पार नहीं किया जा सकता। अतएव चारित्रवान् बनो और सयम पालकर जन्म-मरण का उच्छेद करो।

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे,
अयन्तिए कूड कहावणे वा।
राढामणि वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥
कुसीललिंगं इह धारइत्ता,
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजय लप्पमाणे,
विणिग्घायमागच्छइ से चिरंपि ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बंद की हुई भी खाली मुट्ठी निस्सार है, और मणि के समान चमकता हुआ भी काच का टुकड़ा असार है तथा खोटा सिक्का भी सारहीन है, जानकार के सामने इनका कुछ भी मूल्य नहीं है, उसी प्रकार व्रत नियम से रहित किन्तु साधु का वेष धारण करने वाला भी—वास्तव में असंयमी होता हुआ भी अपने आप को संयमी बतलाने वाला, चिरकाल तक दुःख भोगता है।

व्याख्यान—महानिर्ग्रन्थ मगध सम्राट से कहते हैं—राजन्! मैं तुम्हें सनाथ-अनाथ का भेद समझाता हूँ। अनाथता को समझ लेने पर सनाथता का समझना सरल है। नकली रत्न को पहचान लेने पर सच्चे

रत्न की परीक्षा करना सरल होता है। कोई मनुष्य खाली मुट्ठी बंद करके किसी को बतलावे तो देखने वाला यही समझेगा कि अवश्य इसमें कुछ होगा। पर जिसने मुट्ठी बंद की है, वह तो भलीभाँति जानता है कि मेरी मुट्ठी खाली है। फिर भी वह जान-बूझ कर दूसरों को ठगने के लिए मुट्ठी बंद करता है, सोचता है—दूसरों को क्या पता चलेगा कि मेरी मुट्ठी खाली है। मगर उसे समझना चाहिए कि मैं लोगों को ठगता हूँ, यह मेरी निर्बलता है।

राजन्! जैसे खाली मुट्ठी को बंद करके ठगना ढोंगी आदमी का काम है, उसी प्रकार व्रत-नियमों का पालन न करना और ऊपर से साधु-वेष पहन कर अपने आप को साधु कहना भी ढोंगियों का काम है। सच्चा और भद्र पुरुष खाली मुट्ठी बंद करके किसी को ठगेगा नहीं, इसी प्रकार साधु-धर्म का पालन न कर सकने वाला भद्र पुरुष, जो ढोंगी नहीं है, स्पष्ट कह देगा कि मुझसे साधुता का पालन नहीं हो सकता। वह खाली मुट्ठी बंद करके लोगों को ठगने का ढोंग कदापि नहीं करता।

कहा जा सकता है कि साधुता का पालन न हो सके तो खाली मुट्ठी को बंद रखना अच्छा या खोल देना अच्छा है? अर्थात् साधुता का ऊपरी दिखावा रखना अच्छा या न रखना अच्छा है। इसका उत्तर यह है कि किसी कूप को ऊपर से ढँक देना; जिससे कि दूसरे लोग उसे कूप न समझकर गिर जाएँ, अच्छा नहीं है। इससे तो कूप को खुला रखना ही अच्छा है। ऐसा होने से कोई भ्रमवश कूप में नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार जब साधुता का पालन न हो सकता हो तो स्पष्ट कह देना उचित है, ढोंग करना उचित नहीं। भगवान् ने कहा है कि लोग असाधु की पूजा करें और

उसे साधु मानें तो समझना चाहिए कि वह विषम काल है ।

आजकल इन्द्र जाल के खेल बहुत कम होते हैं; पहले बहुत होते थे । उन खेलों में क्षण भर में कंकरों के रुपये बना दिये जाते थे । खेल करने वाला रुपये बना-बनाकर फैंकता जाता है फिर भी देखने वाले तो समझते हैं कि यह रुपया केवल दिखलाने के लिए ही है अगर सचमुच ही इस प्रकार रुपये बनाये जा सकते तो बनाने वाला पैसे पैसे की भीख क्यों माँगता ?

जिस प्रकार इन्द्र जाल का खेल करने वाला कौतुक करके जगत को ठगता है, उसी प्रकार वे भी जगत को ठगने वाले हैं जो वास्तव में साधुता का पालन नहीं करते, फिर भी साधुता का ढोंग करते हैं । ऐसे ढोंगियों की बदौलत ही नवयुवकों का धर्म के प्रति श्रद्धाभाव कम होता जा रहा है । इन्हीं के कारण लोग कहते सुने जाते हैं कि धर्म ने बहुत आडम्बर फैलाया है और दुनिया में हाहाकार मचाया है, अतएव धर्म की आवश्यकता नहीं है ।

धर्म पर ऐसे आरोप करने वाले युवक भी बहुत उतावल करते हैं । उन्हें समझना चाहिए कि धर्म के नाम पर अगर आडम्बर हो रहा है तो इसमें धर्म का क्या दोष है ? कोई भी धर्म आडम्बर का समर्थन नहीं करता-अपने भीतर उसे प्रश्रय नहीं देता । और जब तुम आडम्बर को ही दूर करना चाहते हो तो यह क्यों नहीं कहते कि हम अधर्म का विरोध करते हैं ? तुम आडम्बर को दूर करना चाहते हो तो धर्म को क्यों बदनाम करते हो ? धर्म का विरोध क्यों करते हो ? आडम्बर के कारण धर्म का विरोध करना कितनी भूल भरी बात है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझिए:—

किसी मनुष्य ने एक रींछ के साथ मित्रता की। दोनों एक दूसरे के पक्के मित्र बन गये। रींछ एक बार सो रहा था। उसका मित्र उसके शरीर पर बैठने वाली मक्खियों को उड़ाने लगा। थोड़ी देर बाद रींछ जगा और अपने मित्र से कहने लगा—अब तुम सो जाओ। मैं मक्खियाँ उड़ाऊँगा। वह मनुष्य सो गया और रींछ मक्खियाँ उड़ाने लगा। परन्तु मक्खियों का तो स्वभाव होता है- एक जगह से उड़कर दूसरी जगह बैठना। अतएव वे अपने स्वभाव के अनुसार एक जगह से उड़कर दूसरी जगह बैठने लगीं। रींछ ने विचार किया—यह मक्खियाँ बड़ी दुष्ट हैं। इन्हें मार डालना चाहिए। यह विचार कर मक्खियों को मारने के लिए वह एक बड़ी-सी लाठी उठा लाया। उसे ज्ञान नहीं था कि लाठी से मक्खियों को मारूँगा तो मेरे मित्र पर भी मार पड़ेगी।

रींछ तो अज्ञान प्राणी ठहरा। अतएव उसने मक्खियों को मारने के उद्देश्य से अपने मित्र को ही लाठी जमा दी। पर आप तो मनुष्य हैं, समझदार हैं। आपको ऐसी मूर्खता नहीं करनी चाहिए। आडम्बर के कारण धर्म की अवहेलना न हो, इस बात की सावधानी रखना आवश्यक है। आप ढोंग का नाश करना चाहते हैं, यह बहुत ठीक है। शास्त्र भी ढोंग को दूर करने का आदेश देता है। किन्तु ढोंग को दूर करने के नाम पर धर्म का विनाश करने का प्रयत्न मत करो। ऐसा करना मक्खियों को मारने के लिए अपने मित्र को मारना होगा। धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है:—

धारयतीति धर्मः।

जो पतित होने से बचाता है, वह धर्म है। परन्तु आज भूल से लोग

पतित करने वाले को, पीछे हटाने वाले को धर्म समझते हैं।

एक लेखक ने लिखा है कि मेरी चले तो मैं धर्म को ताक में रख दूँ और गरीबों को महलों में बसा दूँ। पर मैं पूछता हूँ कि गरीबों को महलों में बसाने वाले अमीरों को कहाँ बसाएँगे? उन्हें झोंपड़ों में बसाओगे? क्या यही समस्या का समाधान है? एक को गिरा कर दूसरे को ऊँचा चढ़ाना क्या उचित है? धर्म इस प्रकार का राग-द्वेष करने से रोकता है। वह सब का समान भाव से अभ्युदय चाहता है। किसी के साथ पक्षपात नहीं करता।

फिर भी जो धर्म के अनुयायी हैं, जो धर्म को जगत का कल्याण कर्त्ता मानते हैं, उन्हें सावधान होना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि नवयुवकों को धर्म के प्रति द्वेष उत्पन्न होने का कारण धर्मात्मा कहलाने वालों का ढोंग है। अगर धर्मात्मा कहलाने वाले धर्म का बराबर पालन करें और किसी के प्रति राग-द्वेष न रखें तो कोई धर्म की निन्दा नहीं कर सकता, कोई धर्म का विरोध नहीं कर सकता।

अनाथी मुनि ने दूसरा उदाहरण खोटे सिक्के का दिया है। खोटे सिक्के का कोई संग्रह नहीं करता। उसे चलाने की कोशिश करने वाला सरकार का अपराधी समझा जाता है और दंड का पात्र होता है।

एक पुस्तक में खोटे सिक्के के संबंध में एक कहानी पढ़ी थी। उसमें लिखा था—बादशाह औरंगजेब धर्म का बड़ा कट्टर था। वह चाहता था कि सारा संसार मुसलमान बन जाय। उसकी इस अभिलाषा का पता इस उक्ति से भी लगता है—

शिवाजी न होत तो सुन्नत होती सब की।

औरंगजेब का समय धार्मिक कट्टरता का समय था। एक बार उसने विचार किया-सब को मार-पीट करके भी इस्लाम में लाना चाहिए। अगर मैं इतना भी न कर सका और अल्लाह ताला के धर्म को न फैला सका तो मेरा बादशाह होना ही बेकार हो गया।

बादशाह के मित्रों मे एक लालदास नामक बाबा भी था वह दरबार में भी आता-जाता था। बादशाह ने सोचा-अगर यह बाबा मेरी इच्छा का समर्थन कर दे तो मेरी मुराद पूरी हो जाय और सब काम सरल हो जाय। ऐसा सोचकर उसने बाबा लालदास से पूछा—बाबाजी, मुझे दुनिया की बन्दगी करनी चाहिए या खुदा की?

बाबा--इसमें पूछने की बात ही क्या है? बन्दगी तो खुदा की ही करनी चाहिए।

बादशाह--यह तो ठीक है, मगर बादशाह को अपनी हैसियत के मुआफिक ही खुदा की बन्दगी करनी चाहिए न?

बाबा--यह भी ठीक है।

बादशाह--तो खुदा की बन्दगी के लिए मैंने यह विचार किया है कि जो लोग राजी-खुशी मुसलमान होने को तैयार नहीं, उन्हें मारपीट करके जबरदस्ती कलमा पढ़वा दिया जाय और मुसलमान बना लिया जाय। कहिए, मेरा यह विचार ठीक है या नहीं?

बाबा—आपके मन में जो विचार आया है, उसे देवदूत भी नहीं बदल सकता। दूसरों की तो बात ही क्या है।

बादशाह—ठीक है, सबमे पहले आपको ही मुसलमान बनना होगा।

बाबा--मैं आपसे कहाँ दूर हूँ? जब मैं आपको सलाह दे रहा हूँ और

आप जबर्दस्ती ही मुसलमान बना रहे हैं, तो मैं कैसे बच सकता हूँ ?

इस प्रकार वार्तालाप होने के पश्चात् लालदास अपने स्थान पर चले गये और सोचने लगे—बादशाह को किस प्रकार समझाना चाहिए ? आखिर उन्होंने एक उपाय सोच लिया और वह उपाय करने के लिए अपने चेले को समझा दिया।

दूसरे दिन बाबाजी बादशाह के पास बैठे थे कि उसी समय उनका चेला वहाँ आया और बाबाजी से कहने लगा—यहाँ के सराफ बहुत ही बदमाश हो गए हैं।

बाबा—क्यों, क्या हुआ ?

चेला—मैं यह रुपया लेकर पैसा लेने गया था, पर उन लोगों ने पैसा नहीं दिया।

बाबा—सराफों ने क्या कहा ?

चेला—कहते हैं, रुपया खोटा है। इसके पैसे नहीं मिल सकते। उन्होंने यह भी कहा कि तुम बाबाजी के चेले हो, इसी से छोड़ देते हैं। अन्यथा तुम्हारी रिपोर्ट करके दंड दिलाते। अब अपना रुपया लेकर चुपचाप चले जाओ।

बादशाह यह सब बात सुन रहा था। उसने बाबाजी से पूछा—क्या बात है ?

बाबाजी—यहाँ के सराफ इतने बदमाश हो गये हैं कि बादशाह के सिक्के को भी नहीं मानते। देखिए, मेरा चेला रुपया लेकर वापिस लौटा है। इस पर बादशाह की छाप है, फिर भी सराफों ने उसे खोटा कह कर फेंक दिया।

आलमगिरी का कायदा प्रसिद्ध है। कहते हैं—अंगरेजों ने भी उस कायदे का बहुत सा हिस्सा अपने कायदे में लिया है।

बादशाह ने बाबाजी से रुपया लेकर देखा और पूछा—यह रुपया आपको किसने दिया है? आपको मेरे कानून का पता नहीं है? यह रुपया खोटा है और खोटा रुपया चलाने वाले को मैं सख्त दंड देता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपने यह रुपया बनाया नहीं होगा; पर आपको यह रुपया दिया किसने है?

बाबा—यह खोटा है तो क्या हो गया? इस पर बादशाह की छाप तो है ही।

बादशाह—मेरा सिक्का सच्चा होना चाहिए। मेरी छाप होने पर भी खोटा सिक्का बनाना और चलाना गुनाह है।

बाबाजी—ऐसा? तो खुदा के नाम पर किसी पर जुल्म गुजारना और मार मार कर मुसलमान बनाना क्या गुनाह नहीं है? ऐसा करना क्या खोटा सिक्का चलाने के समान अपराध नहीं है?

बादशाह समझ गया। उसने पूछा—तब क्या करना चाहिए? बाबा बोले—कोई अपनी मर्जी से मुसलमान बने तो बात अलग है, परन्तु धर्म के लिए सब को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

इसी प्रकार अनाथ मुनि भी खोटे सिक्के का उदाहरण देकर कहते हैं- बुद्धिमान् पुरुष खोटे सिक्के का संग्रह नहीं करते। संसार-व्यवहार के अनुसार जिनके पास अधिक सिक्के होते हैं, वह बड़ा आदमी माना जाता है, मगर वह सिक्के सच्चे हों, खोटे न हों। इसी प्रकार जो व्रत नियमों में तो अस्थिर है किन्तु ऊपर से साधु बना बैठा है, वह खोटे सिक्के के समान है। उसकी

कोई बुद्धिमान् कद्र नहीं करता। सत्पुरुषों की सेवा से पापी भी सुधर जाता है. ढोंगी की सेवा से कोई लाभ नहीं होता।

अनाथ मुनि तीसरा उदाहरण देते हैं। कहते हैं काच का टुकड़ा कितना ही क्यों न चमकता हो और हीरा-पन्ना जैसा क्यों न दृष्टिगोचर होता हो, फिर भी वह रत्न नहीं है और रत्न जितनी कीमत उसकी नहीं आँकी जाती। कोई व्यक्ति काच के टुकड़े को रत्न कह दे तो अज्ञानी ही उसे सत्य मान सकता है। जानकार उसे रत्न नहीं मान सकता।

मुनि यह तीन उदाहरण देकर कहते हैं—जैसी खाली मुट्ठी, खोटा सिक्का और काच का टुकड़ा असार हैं, उसी प्रकार मत-विषयों के अभाव में कोरा साधुवेष और बाह्यक्रिया भी असार है। जो बाहर से साधुता का प्रदर्शन करता है और अन्दर दूसरा ही भाव रखता है, साधुता के पालन का भाव नहीं रखता, वह भी असार है।

इन उदाहरणों को किसी भी दृष्टि से घटाया जा सकता है। कहावत प्रसिद्ध है. -

> ऊँची सी दुकान, फीके पकवान;
> पांच सौ की पूंजी पर, पन्द्रह सौ का दिवाला है।

अर्थात्—पूंजी तो थोड़ी है, पर ऊपरी दिखावा बहुत है, जिससे कि लोग उसे धनवान् समझकर अपना धन सौंप जाएँ।

यही बात उन साधुओं के लिए भी समझनी चाहिए जो साधुपन की पूंजी न होने पर भी ऊपर से ढोंग दिखलाते हैं। सच्चा तत्त्वज्ञानी अन्दर कुछ और रखकर तथा बाहर से कुछ और बतलाकर किसी को ठगने का प्रयत्न नहीं करेगा।

यद्यपि अनाथी मुनि ने जो कुछ कहा है, साधुओं को लक्ष्य में रखकर कहा है, तथापि उनका कथन सभी पर लागू होता है। श्रावकों को भी भीतर कुछ और बाहर कुछ बतलाने से बचना चाहिए। शास्त्र में कहा है:

मायी मिच्छदिट्ठी, अमायी सम्मदिट्ठी।

अर्थात्—जो अन्दर कुछ रखता है और बाहर कुछ और ही दिखलाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि तो वह है जो कपटभाव न रखता हुआ भीतर-बाहर एक-सा होता है।

कदाचित् कोई कहे—यद्यपि हम श्रावक हैं, फिर भी आखिर तो गृहस्थ ठहरे। ऊपर का भभका न रक्खें तो काम कैसे चले? हमें 'पालिस' रखनी ही पड़ती है। परन्तु इस विषय में ज्ञानी कहते हैं:—

उघरे अन्त न होई निवाहू
काल नेमि जिमि रावण राहू।

तुलसीदासजी कहते हैं—रावण साधु बना था, परन्तु साधुधर्म का पालन करने के लिए नहीं, किन्तु राम और सीता को ठगने के लिए। वह सोचता था कि इस वेष से उन्हें ठगने में सहूलियत होगी। अपना मतलब गांठने के लिए जो भी उपयुक्त उपाय हो, करना चाहिए। इसी दृष्टि से वह साधु बना था, किन्तु अन्त में कलई खुल कर ही रही। आखिर परिणाम क्या आया? उसने धर्म के नाम पर ठगाई जरूर की, पर यह ठगाई क्या चल सकी? नहीं। ऐसा विचार के समझदार लोग ढोंग नहीं करते और जनता को धोखा नहीं देते। वे तो आत्मा को शांत और सरल बनाने में दत्तचित्त रहते हैं।

एक योगी ने योगसाधना सीख लेने के पश्चात् दूसरे योगी से कहा—

देखो, योगसाधना में मैंने जो सफलता प्राप्त की है, उसका चमत्कार अभी आपको बतलाता हूँ। दूसरे ने कहा—योगसाधना में सफलता पाने वाला कभी अपने मुँह से ऐसी बात नहीं निकालता। तुम्हारे कहने से जान पड़ता है कि तुमने योग नहीं सीखा। तब पहला योगी कहने लगा – आपका यही विचार है तो लीजिए, अभी बतलाता हूँ कि मैंने कैसा योग सीखा है।

इतना कह कर उस योगी ने सामने से आते हुए एक हाथी पर दृष्टि फेंकी। हाथी मूर्छित होकर जमीन पर ढह पड़ा। तब वह मुस्कराता हुआ कहने लगा—देखा, मेरे योग का प्रभाव!

दूसरा योगी इसमें क्या योग है। यह काम तो दूसरी तरह से भी हो सकता है। अपने मन रूपी मतङ्ग को गिरा देने और उसका दमन करने में योग की सफलता है। इस प्रकार के चमत्कार दिखलाने में योग की सफलता नहीं है।

साधु पुरुष ऐसे चमत्कार दिखलाने और लोगों को ठगने में कदापि प्रवृत्त नहीं होते। कुछ लोगों के कथनानुसार चमत्कार को नमस्कार होता है, अतएव चमत्कार अवश्य दिखलाना चाहिए, किन्तु साधुओं को तो अहंकार को जीतने का ही चमत्कार दिखलाना चाहिए। इसी में उनका श्रेय है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! साधुपन दुनिया को ठगने के लिए तथा लोगों को अपने चरणों में झुकाने के लिए नहीं है। साधुपन लेकर उसका बराबर पालन न करना और लोगों को झुकाने के लिए ऊपर से ढोंग करना तो खाली मुट्ठी को बन्द करके दूसरों को बतलाने के समान है। खाली और बन्द की हुई मुट्ठी को दूसरा भले भरी हुई समझ ले, पर मुट्ठी

बन्द करने वाला तो भलीभांति समझता है कि मेरी मुट्ठी खाली है। इसी प्रकार दिखावटी साधुपन से भले दूसरे धोखे में आ जाएँ, परन्तु वह स्वयं तो समझता ही है कि मैं वास्तव में साधु नहीं हूँ। फिर इस प्रकार की ठगाई करने से क्या लाभ है? धर्म के नाम पर लोगों को ठगने की नीचता के समान और क्या नीचता हो सकती है? कहा है:—

जीभ सफाई करके भाई धर्मी नाम धरावे।
पोली मुट्ठी जहा असोर यों बतलावे॥

हृदय में कुछ रखना और ऊपर से कुछ और दिखलाना एक प्रकार की ठगाई है।

कहा जा सकता है—तो फिर साधु न बनना ही अच्छा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मान लीजिए, एक आदमी कहता है - पाठशाला में जाने वाले कितने ही लोग मूर्ख भी होते हैं अथवा मूर्ख भी कहलाते हैं। अतएव मैं पाठशाला में नहीं जाता और इसलिए मूर्ख भी नहीं कहलाता। यों कह कर वह पाठशाला में नहीं जाता। दूसरा आदमी पाठशाला में जाता तो है पर बराबर पाठ याद नहीं करता और शिक्षक के हाथों मार खाता है। शिक्षक उसे मूर्ख भी कहता है। तीसरा पाठशाला जाता है और बराबर पाठ तैयार करता है।

इन तीन प्रकार के आदमियों में से आप किसे अच्छा समझते हैं? आप यही कहेंगे कि पाठशाला न जाने वाला पहला आदमी तो नालायक ही है। उसका भविष्य सदैव अन्धकारमय रहेगा। उसके सुधार की कोई संभावना नहीं है। हाँ, दूसरा मनुष्य, जो पाठशाला जाता है पर बरावर अभ्यास नहीं करता, किसी न किसी दिन सुधर सकता है तीसरा मनुष्य तो उत्तम है ही।

साधुपन के विषय में भी यही समझना चाहिए। संसार में कोई-कोई तो ऐसे होते हैं जो कहते हैं—धर्म का नाम भी मत लो। ऐसे लोग धर्म स्वीकार नहीं करते, धर्म का पालन नहीं करते और धर्म का नाम-निशान भी रहने देना नहीं चाहते। दूसरे प्रकार के लोग धर्म को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु बराबर पालन नहीं करते। तीसरी श्रेणी वाले धर्म को स्वीकार भी करते हैं और पालते भी हैं। इसी तरह संसार में तीनों तरह के लोग हैं। विचारणीय बात यह है कि जिन्होंने धर्म को स्वीकार ही नहीं किया, उन्हें धर्म की टीका करने का क्या अधिकार है? जो पाठशाला में गया नहीं और जाता भी नहीं, उसे पाठशाला की बुराई करने की क्या आवश्यकता है? परन्तु आज धर्म तो बिना बाप का बेटा—अनाथ—हो रहा है। कौन उसकी हिमायत करे? जो चाहता है वही उसकी बुराई करने लगता है।

अभिप्राय यह है कि जो धर्म की शिक्षा को ही स्वीकार नहीं करता फिर भी धर्म की टीका-टिप्पणी करता है; वह अयोग्य और अभव्य के समान है। दूसरे प्रकार का मनुष्य वह है जो धर्म की शाला में जाता है, धर्म को अंगीकार करता है और लिंग भी धारण करता है किन्तु धर्म का पालन नहीं करता। ऐसा व्यक्ति यद्यपि धर्म का पालन करने वाले से निम्न कोटि का है, फिर भी पहले व्यक्ति से अच्छा है। यह धर्म को अंगीकार न करने वाले की अपेक्षा भी बुरा नहीं कहा जा सकता। भावना तो यही होनी चाहिए कि मैं निरपवाद धर्म का पालन कर सकूँ, फिर भी कोई ऐसा न कर सकता हो तो उसे अपनी दुर्बलता मानना चाहिए और किसी भी प्रकार के दम्भ का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

अनाथ मुनि खोटे रुपये का उदाहरण देकर कहते हैं—जैसे खोटे रुपये का कोई संग्रह नहीं करता, साहूकार अपनी तिजोरी में स्थान नहीं देता, उसी प्रकार ज्ञानी जनों की दृष्टि में वह साधु आदर नहीं पाते, जो वास्तव में साधुपन नहीं पालते, किन्तु ऊपर से साधु होने का दिखावा मात्र करते हैं।

आप एक रुपया लेते हैं तो भी परख कर और बजाकर लेते हैं। जान बूझ कर खोटा रुपया नहीं लेते। यही नहीं, साहूकार लोग खोटे रुपये को उसी समय काट डालते हैं।

इसी प्रकार काच कितना ही चमकदार क्यों न हो, जानकार उसे हीरा नहीं मानता। यही बात साधुओं के विषय में भी समझ लो। हाँ, जैसे आज काच और हीरा को परखने वाले कम हैं, उसी प्रकार साधु और असाधु को परखने वाले भी कम हैं, फिर भी जो परखने वाले हैं, उनके सामने साधुता का पालन न करने वाले किन्तु साधु का वेष पहनने वाले प्रतिष्ठा नहीं पा सकते।

अनाथ मुनि कहते हैं—जैसे खोटे रुपये की और काच की कोई कीमत नहीं, उसी प्रकार कुशील-लिंगी साधु की भी कोई प्रतिष्ठा नहीं।

शास्त्र में पाँच प्रकार के कुशील कहे गये हैं, जो अवन्दनीय हैं। शास्त्र में उनका वर्णन करते कहा गया है कि कुशीलों को वन्दना-नमस्कार करने से प्रायश्चित आता है। कुशील का अर्थ है -'कुत्सितंशीलं यस्य सः कुशीलः।' अर्थात् जिसका आचार निन्दित हो, वह कुशील कहलाता है।

बाजार में सड़ी नारंगी भी मिलती है और अच्छी नारंगी भी मिलती

है। नारंगी तो दोनों कहलाती हैं, परन्तु पैसा देकर खरीदने वाला कैसी नारंगी खरीदेगा ? आकार-प्रकार में तो सड़ी नारंगी भी अच्छी जैसी दिखाई पड़ती है, फिर भी खरीददार अच्छी ही खरीदेगा, सड़ी नहीं। उसी प्रकार शास्त्र कहता है कि वेशभूषा वगैरह में कुशीललिंगी भी साधु जैसा ही दिखाई देता है, मगर साधुता-असाधुता का पारखी कुशीललिंगी को आदर नहीं दे सकता।

मुनि कहते हैं—साधु का लिंग-मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि-ऋषीश्वरों का चिह्न है। साधुता है अथवा नहीं, यह बात तो बाद में मालूम पड़ती है, पहले तो चिह्न ही देखा जाता है और उसी से साधु की पहचान होती है। सिद्धान्त मे भी कहा है: -

लोगे लिंगपओयण।

अर्थात्—लोक से लिंग का भी प्रयोजन है। यद्यपि निश्चय मे लिंग की आवश्यकता नहीं रहती, पर लोक में तो लिंग की आवश्यकता रहती ही है। लिंग के अभाव मे मर्यादा भंग हो जाती है। उदाहरणार्थ—आवश्यकता तो तालाब के पानी की है, लेकिन पाल के बिना पानी नहीं रह सकता। इसी प्रकार आवश्यकता तो धर्म की है, मगर संसार में धर्म चलाना है, अतएव लिंग की भी आवश्यकता है। तालाब की पाल बाँधने में जितनी मिहनत पड़ती है, उतनी पानी लाने में नहीं पड़ती। तालाब में पानी आ जाय, किन्तु पाल न हो तो वह टिक नहीं सकता। कोई मनुष्य पाल तोड़ने लगे तो उससे यह नहीं कहा जाता कि तू पाल को हानि पहुँचाता है, मगर यही कहा जाता है कि तू पानी को हानि पहुँचा रहा है।

इसी प्रकार दीक्षा देने मे मिहनत नहीं करनी पड़ती। दीक्षा तो हृदय

में ही होती है। परन्तु दीक्षा देना और मुंहपत्ती बांधना या वेष पहनना दीक्षा की पाल बाँधने के समान है। निश्चय में तो पगड़ी पहनने वाले में भी साधुता हो सकती है, परन्तु वेष की पाल बँधी न होने से वह साधुता टिक नहीं सकती। अतएव वेष भी काम की वस्तु है और साधुता को टिकाये रखने में सहायक है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान से विचलित हो गये थे, किन्तु जब उन्होंने मस्तक पर हाथ फेरा, तब ख्याल आया कि—अरे, मैं तो साधु हूँ! यह क्या कर रहा हूँ! यह ख्याल आते ही वे फिर ध्यान में स्थिर हो गये। अगर उन्होंने मस्तक न मुंडाया होता और मस्तक पर मुकुट धारण किया होता तो क्या वे फिर ध्यान में स्थिर हो गये होते? इस प्रकार वेष साधुता की पाल है और उसकी आवश्यकता भी है। हाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पाल केवल पाल ही न रह जाय! किसी तालाब की पाल तो बाँध दी गई, पर उसमें पानी नहीं आया तो केवल पाल ही पाल रह जाएगी—तालाब खाली कहलाएगा। इसी प्रकार कोरा वेष ही धारण किया जाय और साधुता का पालन न किया जाय तो वह खाली तालाब के समान है। पानी की आवश्यकता होने पर भी पाल की आवश्यकता है; इसी प्रकार साधुता की आवश्यकता के साथ लिंग की भी आवश्यकता है। शास्त्र में अनेक स्थानों पर पाठ आता है:—

तहारूवाणं समणाणं निग्गंथाणं।

यहां 'तहारुवाणं' पद देकर सबसे पहले लिंग को आवश्यक बतलाया गया है। यहां कहा गया है कि साधु 'तथारूप' होना चाहिए। क्योंकि पहले रूप दिखाई देता है। साधुपन तो बाद में मालूम पड़ता है।

इस प्रकार जो रूप साधुओं का परिचायक है और ऋषीश्वरों का चिह्न

है, उसे भी कुशीललिंगी लोग अपनी आजीविका का साधन बना लेते हैं और असंयमी होने पर भी अपने आपको संयमी कहलवाते हैं। अनाथ मुनि कहते हैं—ऐसा करने वाले अनन्त काल तक संसार में भटकते हैं।

जो पाठशाला में अभ्यास करने ही नहीं जाता, वह मूर्ख है। अतएव उसके सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। शिक्षक उसी को दण्ड देता है जो पाठशाला में जाकर भी बराबर अभ्यास नहीं करता। यद्यपि शिक्षक का दिया दण्ड भोगना पड़ता है, लेकिन दण्ड भोगने वाला एक दिन विद्वान् बन जाता है। परन्तु चतुर विद्यार्थी तो पहले ही सोच लेता है कि मैं शाला में जाता हूँ तो मुझे बिना दण्ड भोगे बराबर अभ्यास करना चाहिए। मैं क्यों दण्ड सहन करूँ? इसी प्रकार सजा भुगते बिना, पहले से ही निर्दोष संयम का पालन करने वाला श्रेष्ठ गिना जाता है।

विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो,
हणाई वेयाल इवाविवन्नो ॥ ४४ ॥

अर्थ—जैसे पिया हुआ कालकूट विष मार डालता है, बुरी तरह पकड़ा हुआ हथियार काट डालता है, अविधि से जपा हुआ मंत्र प्राणनाशक होता है, उसी प्रकार विषय भोग-मिश्रित यतिधर्म (व्रत-नियम से रहित साधुवेष) भी अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करता है।

व्याख्यान—अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक के समक्ष जो उद्गार निकाले हैं और जिन्हें गणधरों ने अपने हित के लिए शास्त्र में गूँथा है, उन्हें सुन

कर आप भी अपनी आत्मा को पवित्र बनाओ। अनाथ मुनि ने जो कहा है, साधुओं को लक्ष्य करके कहा है, लेकिन आप मुनियों के साक्षी रूप हैं। उन ने राजा श्रेणिक को साक्षी बनाया था लेकिन आजकल कई लोग लाँच लेकर साक्षी देने को तैयार हो जाते हैं। आप ऐसे साक्षी न बनें। आप सच्चे साक्षी बनेंगे तो मुनियों का भी कल्याण होगा और आपका भी कल्याण होगा।

इस गाथा में मार्मिक उपदेश दिया गया है। मुनिराज कहते हैं—जो अनाथता से छूटकर सनाथ बनने को तैयार हुआ है और जिसने धर्म का आश्रय लिया है; फिर भी अगर उसकी विषयवासना छूटी नहीं है, वह विषयवासना की पूर्ति के लिए ही धर्म को धारण करता है तो वह ऐसे मनुष्य के समान है जो जीवित रहने की इच्छा से कालकूट विष का पान करता है। जीवित रहने की अभिलाषा करना और कालकूट विष का पान करना परस्पर विरोधी बातें हैं। इसी प्रकार ऊपर से तो धर्म का उपदेश देना और अन्तरंग में विषयवासना को आश्रय देना जीवन की इच्छा से विष-सेवन करने के ही समान है।

मुनिराज इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, एक मनुष्य शत्रु को मारने के लिए तलवार लेकर घर से निकला। मगर उसने तलवार उलटी पकड़ी है, अर्थात् मूठ की ओर से न पकड़ कर नौक की तरफ से पकड़ी है। इस तरह उलटी तलवार पकड़ने वाला मनुष्य आपको दिखलाई दे तो आप उसे कैसा समझेंगे? उसे मूर्ख ही समझेंगे न! आप कहेंगे—यह शत्रु को मारने जा रहा है अथवा अपने आपको मारने जा रहा है?

तो जिस प्रकार जीवित रहने की इच्छा से कालकूट विष को पान करने

वाला और शत्रु को मारने के लिए निकलने पर भी उलटा शस्त्र पकड़ने वाला अपनी मृत्यु का ही कारण बनता है, उसी प्रकार जो अपनी विषय वासना का पोषण करने के लिए ही धर्म का ढोंग करता है, वह भी अपना ही अहित करता है।

अनाथ मुनि इसी विषय में तीसरा उदाहरण देते हैं। यह उदाहरण उस समय की स्थिति का तथा उस समय की जनता में फैले भ्रम का द्योतक है। मुनिराज कहते हैं—जैसे कोई मनुष्य दूसरों का भूत भगाने के लिए तैयार होता है, परन्तु अपना रक्षण नहीं करता, और परिणामस्वरूप वह भूत उसी को खा जाता है। इसी प्रकार जो दूसरों को अहिंसा, क्षमा आदि का उपदेश देता है, परन्तु उन्हें स्वीकार करने की प्रतिज्ञा करके भी उनका स्वयं पालन नहीं करता, उसकी भी ऐसी ही गति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे उपर्युक्त तीनों पुरुष जो चाहते हैं उससे विपरीत कार्य करते हैं, उसी प्रकार जो सयम लेकर उसका पालन नहीं करते, वरन् संयम के सहारे अपनी आजीविका चलाते हैं, वे भी विपरीत ही आचरण करते हैं।

इस संसार में कौन अपना कल्याण नहीं चाहता ? सब अपना कल्याण चाहते हैं, फिर भी बहुत से कल्याणकारी कार्य नहीं करते। ऐसे लोगों के प्रति शास्त्रकार अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। कोई मनुष्य जीवित रहना चाहता हो और फिर भी जहर पीना चाहता हो। दूसरा मनुष्य उससे कहता है— यह प्राणहारी विष है, इसे छोड़ दे और दूध पी ले। फिर भी वह जहर पीने का ही दुराग्रह करे तो उसे क्या कहना चाहिए ? इसी प्रकार एक मनुष्य साधुता को कल्याणकारी मानता है, परन्तु विपरीत मार्ग पर जा रहा है। उसे दूसरा सावधान करता है—'तुम धर्म को उत्तम मानते हो सो तो

ठीक है, पर विपरीत मार्ग पर चल रहे हो !' इस प्रकार सावधान करने पर भी अगर वह विपरीत मार्ग को न छोड़े और कहे कि हम कुछ भी करें, तुम्हें बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? तो ऐसे लोगों के संबंध में यही कहना पड़ेगा कि वे मोह में पडे हैं। कदाचित् भूल बतलाने वाला भ्रम मे हो और भ्रम के कारण ही उसके द्वारा असत्य कहा गया हो, तो भी जो मोह में नहीं पड़ा है, वह क्रोध नहीं करेगा। वह नम्रतापूर्वक समझाएगा कि तुम भ्रम में हो। परन्तु जो समझाने के बदले क्रोध करता है, उसके विषय में तो यही समझना होगा कि वह अपना मार्ग भूला है।

नासिरुद्दीन महमूद नामक एक बादशाह हो गया है। यद्यपि वह गुलाम खानदान का था, पर कहा जाता है कि उसका हृदय उदार था। वह अच्छा लेखक था और उसके अक्षर बहुत सुन्दर थे। वह राज्य के पैसे का उपयोग नहीं करता था, वरन् कुरान आदि पुस्तकें लिख-लिख कर बेचता था और उसी से अपनी आजीविका चलाता था।

एक बार उसने अपने हाथों लिखी कुरान की पोथी एक मौलवी को बतलाई। मौलवी ने कहा—इस जगह अनुस्वार (नुकता) होना चाहिए। यह भूल रह गई है।

बादशाह ने अनुस्वार लगा दिया। जब मौलवी चला गया तो उसने वह अनुस्वार हटा दिया। सरदारों ने पूछा—ऐसा करने का प्रयोजन ? अगर अनुस्वार नहीं होना चाहिए तो पहले क्यों बढाया ? और यदि होना चाहिए तो बाद में उसे हटा क्यों दिया ?

बादशाह ने कहा—यद्यपि भूल न थी, पर मौलवी ने भूल बतलाई तो मैंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसा न करता तो मौलवी का चित्त दुखी

होता। वह बहुत दूर से चलकर आया था। मैं उसकी बात न मानता तो मेरी भूल मुझे कौन बतलाता ? मैं भूल बतलाने के लिए उसका उपकार मानता हू। मैं उसकी बात न मानता तो मुझे कोई शिक्षा ही न देता। परिणामस्वरूप मैं अपराधी हो जाता।

तात्पर्य यह है कि बादशाह ने अवास्तविक शिक्षा देने वाले पर भी क्रोध नहीं किया, उलटा उसका उपकार माना। ऐसी स्थिति में जो मुनि होकर भी शिक्षा देने वाले पर नाराज होता है, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट:' की कहावत चरितार्थ करता है। हाँ, जो क्रोध नहीं करता और अपनी वास्तविकता शान्तिपूर्वक समझा देता है, मानना चाहिए कि वह सन्मार्ग पर है।

जो प्रतिज्ञा जिस रूप मे अंगीकार की हो, उसे अन्त तक उसी रूप में पालना वीरों का मार्ग है। इसके विपरीत घोटाला करने वाला पतित है। अनाथ मुनि के-कथनानुसार विषय-वासना के पोषण के लिए धर्म की सहायता लेना जीवन की आशा से विष का सेवन करना है। अतएव अनाथ मुनि का यह उपदेश सुनकर मुनियों को विचार करना चाहिए कि—मैं ऊर्ध्वगामी होना चाहता हूँ। अगर मैंने अधोगामी होने के कार्य किये तो ऊर्ध्वगामी कैसे हो सकूँगा ? अतः हे प्रभो! मुझसे ऐसे काम न हों, जिससे मेरी आत्मा अधोगामी बने। यह तो साधु की बात हुई। आप लोग भी अपने विषय मे विचार करें। आप सन्तसेवा के लिए दूर से आये हैं। अगर सन्तों की सेवा विषय लालसा को पुष्ट करने के उद्देश्य से की तो आपका यह काम विपरीत होगा। आपके अन्तःकरण में विषय-लालसा नहीं होनी चाहिए। आपको तो विषय-लालसा पर विजय प्राप्त करने के लिए

साधुओं की सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार की भावना रखकर साधुओं की सेवा करोगे तो आप कल्याण के भागी बन सकोगे। इसके विरुद्ध अगर आप यह कहें कि–'हम तो कुछ न कुछ चमत्कार देखने के लिए साधुओं के पास आते हैं। साधुओं के पास कुछ चमत्कार होना ही चाहिए। अगर चमत्कार नहीं है तो उनका गृहत्याग करना ही वृथा है। नमस्कार तो चमत्कार को ही होता है।' तो आप मोह में पडे हैं।

ससारी लोगों में कदाचित् ऐसी भावना हो सकती है, परन्तु साधुओं को तो इस प्रकार की भावना पास भी नहीं फटकने देना चाहिए।

ज्ञातासूत्र मे कहा है कि ग्वालिका सती सुकुमालिका के घर गोचरी के लिए गई। सुकुमालिका ने सोचा—इनके पास कुछ चमत्कार तो होगा ही। पहले आहार-पानी दे दूँ, फिर चमत्कार के विषय में पूछूँगी। उसने प्रीति के साथ आहार-पानी वहराया और फिर हाथ जोड़कर उसकी प्रशंसा करती हुई कहने लगी—आर्ये! आप साध्वी हैं, शुभ ब्रह्मचारिणी हैं। अतएव मैं आपके समक्ष अपना दुःख प्रकट करना चाहती हूँ और उसके प्रतीकार का मार्ग जानना चाहती हूँ। मै पर-पुरुष की कामना नहीं करती। मेरे पिता ने योग्य पुरुष के साथ मेरा विवाहसबंध किया था, परन्तु वह मुझे छोड़ कर चला गया फिर मै एक भिखारी को दे दी गई। दुर्भाग्य से उसने भी मेरा परित्याग कर दिया। अब कृपा करके ऐसा कोई उपाय बतलाइए, जिससे मेरा दु ख दूर हो जाय!

सुकुमालिका की बात सुन कर ग्वालिका सती ने कानों में उँगली डाल कर कहा—इस विषय मे हमे कुछ सुनना भी नहीं कल्पता तो कहने की बात ही दूर रही। हाँ, तुझे संसार अरुचिकर प्रतीत होता हो तो मै धर्म का

उपदेश दे सकती हूँ।

सुकुमालिका ने निराश होकर कहा - ठीक है, यही सही।

ग्वालिका सती ने उसे धर्म का उपदेश दिया। उसकी विषय-वासना उपशान्त हो गई। वह कहने लगी--'परमात्मा को छोड़कर यह शरीर अब किसे सौंपूँ ?'

आशय यह है कि ससार मे सब तरह के लोग हैं, मगर आप को इस प्रकार की भावना से बचना चाहिए। फिर भी अगर आप न बच सकें तो हम साधुओं को तो इस प्रपच से बचना ही चाहिए। आपको भी समझना चाहिए कि जिस धर्म मे अनंत शक्ति है, उससे तुच्छ सासारिक सुख की प्राप्ति की आशा हमें करनी चाहिए ? जो मिलना होगा वह तो लालसा किये बिना भी मिलकर ही रहेगा। लालसा न करने से फल नहीं मिलेगा, यह सभव नहीं है। बल्कि लालसा न करने से अनन्त गुणा फल मिलता है। ऐसा विचार कर धर्म से सासारिक विषय वासना की पूर्त्ति की आशा न रखने में ही कल्याण है।

राजा, यही बात साधु-वेश के लिए भी समझ ले। साधु का वेश, संयम के लिए है। साधु वेश से, सयम पालने की पहचान होती है। वेश को देखकर जनता यह जानती है, कि ये वेश धारण करने वाले, पच महाव्रत के पालक और सनाथ हैं। लेकिन राजा, यदि कोई आदमी केवल वेश धारण किये रहे, पंच महाव्रत का पालन न करे, तो यह खाली वेश, उसे उस दण्ड से कदापि नहीं बचा सकता, जो दण्ड, पंच महाव्रत स्वीकार करके फिर पालन न करने से मिलता है। बल्कि यह थोथा साधु वेश, उस दण्ड में उसी प्रकार वृद्धि करता है, जिस प्रकार अपराध करने

पर, राज-मुद्रा दण्ड में वृद्धि करती है।

राजा, कभी कोई यह कहे, कि साधु-चिन्ह, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखकर, यदि पंच महाव्रत का पालन न किया, तब भी कुछ न कुछ यतना तो करेगी ही। फिर उसने बुरा क्या किया, जो उसे अधिक दण्ड-नरकादि मिलता है? लेकिन राजा, महाव्रतों का पालन न करके भी, वह रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि किस अभिप्राय से रखता है, इसे देखो। पंच महाव्रत का पालन न करके भी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखने से उसका अभिप्राय जयणा करना नहीं है, किन्तु लोगों को धोखा देना है। पंच महाव्रत की घात करके, वह, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि आजीविका के लिए रखता है। यदि यतना के लिए रखता होता, तो पच महाव्रत की घात ही क्यों करता? कोई चोर, पैसों की चोरी न करके, रुपयों की चोरी करे, तो इसका यह अर्थ नहीं है, कि वह इतने अंश में ईमानदार है। ईमानदार तो तब होता, जब रुपयों की भी चोरी न करता। रुपयों की चोरी करता है इसलिए पैसों की चोरी छोड़ने का कोई मूल्य नहीं है। बल्कि, पैसों की चोरी छोड़कर रुपयों की चोरी करने वाला अधिक धूर्त है। उसने, धूर्तता के लिए पैसों की चोरी छोड़ी है। इसी प्रकार पंच महाव्रत की घात करे और जयणा के नाम पर साधु-लिङ्ग धारण किये रहे, तो यह धूर्तता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस आदमी को जयणा का ध्यान होगा, वह पच महाव्रत की घात करे, यह कदापि सम्भव नहीं है।

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे

निमित्त कोऊहल संपगाढे।

कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥४५॥

अर्थ— जो मनुष्य साधु बनकर स्वप्न एवं लक्षण आदि का शुभाशुभ फल बतलाता है, भूकंप या आकाशविग्रह आदि बतलाता है, पुत्र प्राप्ति का उपाय करवाता है, चमत्कार की बातें बतलाता है और इन कार्यों से अपनी आजीविका करता है, वह अन्त समय में दुःखों से त्राण नहीं पा सकता। वह अशरण—अनाथ होता है।

व्याख्यान—मुनिराज ने पहले मूल गुणों की ओर से होने वाली अनाथता बतलाई थी। अब वे उत्तर गुणों की ओर से होने वाली अनाथता का दिग्दर्शन कराते हैं।

मुनि कहते हैं—जो लोग घर-द्वार छोड़ कर साधु बने हैं, उनका फिर विषय-वासना की ओर झुक कर गुलाम बन जाना दुःख की बात है। जो चढता ही नहीं उसकी बात न्यारी है, परन्तु जो ऊँचा चढ़कर नीचे गिरता है, वह सब की नजरों में आ जाता है। उसके लिए हाहाकार मच जाता है। इसी प्रकार जिन्होंने धर्म को अंगीकार नहीं किया, उनकी बात अलग है। मगर जो धर्म को अंगीकार करके बाद में इन्द्रियों के गुलाम बनकर पतित हो जाते हैं, वे चिन्ता के विषय हैं।

संयम धारण करने वाला व्यक्ति, विचार करता है कि—मैं प्रभुमय जीवन व्यतीत करूँगा। परन्तु शास्त्रों और ग्रन्थों का अध्ययन करके जब कुशल बन जाय और चित्त में और ही प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाय तब उसे क्या कहना चाहिए?

मान लीजिए, किसी किसान ने एक बंध बाँधा। उस समय उसकी

भावना थी कि मैं इस पानी से खेत को सींच कर अच्छी फसल उत्पन्न करूँगा। वह चाहे तो वास्तव में ऐसा कर भी सकता है। मगर वह मूर्ख किसान उस पानी से आक एवं धतूरे के समान वृक्षों को सींचता है और आम जैसे वृक्षों को नहीं सींचता। क्या आप उसके कार्य की सराहना करेंगे? जल का स्वभाव है कि उससे जिस किसी वृक्ष या पौधे को सींचा जाएगा, उसे पोषण मिलेगा? परन्तु जिस जल के द्वारा सुन्दर खेती पैदा की जा सकती है, उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग करना क्या उचित है!

इसी प्रकार अपना और जगत् का कल्याण करना संयम लेने का उद्देश्य था। संयम ग्रहण करने के पश्चात् ही इस उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। ज्ञान का उपयोग भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिए। किन्तु कई लोग उस मूर्ख किसान की भाँति अपने ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। इसी हेतु से अनाथी मुनि हमें और आपको सावधान कर रहे हैं। गृहस्थ सांसारिक वस्तुओं के लोभी होते हैं और चमत्कार देखना चाहते हैं, परन्तु कितनेक साधु भी अपने ध्येय को भूल कर दूसरी ओर मुड़ जाते हैं। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में अनाथी मुनि कहते हैं कि अपने ध्येय को भूल कर दूसरी ओर चले जाने वाले साधु किस प्रकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

किसी का हाथ देखकर कहना—तू बहुत भाग्यशाली है। देख, मैं तेरे पूर्वभव और आगामी भव का वृत्तान्त बतलाता हूँ। इस प्रकार कह कर किसी का भूत-भावी वृत्तान्त कह सुनाना, किसी के कान नाक आदि देखकर फल कहना, किसी को पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रणी आदि स्त्रियों के भेद बतलाना और किसी को निमित्त बतलाना, यों करेगा तो ऐसा फल मिलेगा

आदि कहना तथा लक्षण-ज्योतिष आदि बतलाना, यह सब उन्मार्ग गमन के लक्षण हैं और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना है। गृहस्थ तो यही चाहते हैं। इसी कारण वे इस प्रकार के उलटे कार्य करने वाले साधुओं को प्रोत्साहन देते हैं। किन्तु साधुओं को तो अपने पद की मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। उन्हें जहरीले वृक्षों का पोषण करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि अगर किसी साधु को निमित्त या लक्षण का ज्ञान हो तो उसका उपयोग क्या है? वह अपने ज्ञान से किसी को लाभ न पहुँचा सके तो उनका वह ज्ञान किस काम का? इसके अतिरिक्त निमित्त या लक्षण बतलाने में हानि भी क्या है? बल्कि धर्मोपदेश से दूसरों को जैन बनाना कठिन है, पर इस प्रकार का चमत्कार बतलाकर बहुतों को जैन बनाया जा सकता है। इस प्रकार जैनधर्म के उद्योत के लिए यदि साधु निमित्त-लक्षण-ज्ञान का प्रयोग करे तो क्या हानि है? फिर जिस प्रकार पानी का उपयोग खेती में किया जाता है, उसी प्रकार लक्षणशास्त्र का उपयोग लक्षण बतलाने में करना क्या बुरा है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लक्षण ज्ञान आदि का ऐसा उपयोग करने से साधुओं को बहुत हानि होती है। जो सच्चा लक्षणज्ञानी होगा, वह सर्व प्रथम अपने लक्षण देखेगा और सोचेगा कि मुझमें जिन कामों को करने का लक्षण नहीं है, मैं उनमें न पड़ूँ और जिन कामों के लक्षण हैं उनके लिए यदि भगवान् की आज्ञा हो तो करूँ, अन्यथा नहीं। इस प्रकार सर्वप्रथम अपने ही लक्षण देखने चाहिए। अथवा कोई वैरागी हो तो उसके लक्षण देख लेने चाहिए कि यह धर्म को प्राप्त करके पाल सकेगा

या नहीं ? लक्षण देखने से प्रतीत हो कि यह पाल सकेगा तो ही उसे दीक्षित करना चाहिए ।

लक्षणशास्त्र का ज्ञाता आयु के विषय में भी बहुत कुछ जान सकता है । अगर अवसर आ गया हो और कोई उसे संथारा कराने के लिए कहे तो आयु स्वल्प शेष रही जान कर संथारा कराया जा सकता है । अथवा यह कह सकता है कि इसकी आयु अभी शेष है, अतएव यह दृढ नहीं रह सकेगा । अभी इसे सथारा न कराना ही ठीक है ।

इस प्रकार विवेक रखने में भी लक्षणशास्त्र का उपयोग किया जा सकता है । ऐसा न करके यह बतलाना कि—'तुझे स्त्री या पुत्र की प्राप्ति होगी, ' यह जिस संसार को खराब समझकर त्यागा है और संयम धारण किया है, उसी ससार में फिर से फँस जाना है ।

कोई साधु लक्षण-निमित्त द्वारा चमत्कार बतलावे और कहे कि इस चमत्कार द्वारा जिस धन की प्राप्ति होगी, इसे मैं संघ-हित में ही काम में लूँगा, तो उसके विषय में आप क्या कहेंगे ? यही कहोगे कि ऐसा है तो सट्टा, नीलाम और जुआ आदि खेलने में क्या हर्ज है ? तब तो बस यही कहना चाहिए कि आज चौका का दाव लगेगा, रुपया लगा दो और जो रुपया आवे उसे सघ के हित के लिए खर्च कर देना । क्या ऐसा करना योग्य होगा ?

स्त्री पुरुष के सबध में भी यही बहाना किया जा सकता है । कहा जा सकता है कि हम इनके लक्षण बतलाते हैं । इनका जोड़ा मिल जाएगा तो श्रावक श्राविका बन कर धर्म का उद्योत करेंगे । इस प्रकार तो सभी में लाभ बतलाया जा सकता है ।

ऐसे-ऐसे प्रलोभनों से ही यति समाज का अधःपतन हुआ है। अन्यथा वह समाज भी पच महाव्रतधारी था। पहले स त्रहित का नाम लिया गया। वह कुछ अच्छा लगा। पर अन्त में ऐसा दुष्परिणाम आया कि जो किसी समय महाव्रतधारी थे, वही आज स सारी बन गए। पहले वस्त्र को रक्त से लथपथ कर देना और फिर धोना ठीक नहीं, स घहित के नाम पर भी कोई अनुचित काम करना योग्य नहीं है। पहले तो स घहित का नाम लेकर धन सचित किया जायगा, परन्तु अन्त में इस पद्धति का बड़ा ही भीषण परिणाम आएगा। यह बात हमें बराबर ध्यान मे रखनी चाहिए।

अगर यह कार्य हितकर होता तो शास्त्र में इसका निषेध न किया गया होता। गौतम स्वामी महान् लब्धिधारी थे। वह अपनी लब्धियों का प्रयोग करते तो एक ही दिन मे सारे ससार को जैनधर्मानुयायी बना सकते थे। उनमें एक लब्धि ऐसी थी कि थोड़ी-सी खीर में अपना अगूठा रख लें तो चक्रवर्ती की सारी सेना भरपेट खीर खा ले, फिर भी वह उतनी की उतनी ही रहे। इस प्रकार की शक्ति होने पर भी उन्होंने कभी उसका उपयोग नहीं किया, किन्तु अपनी गोचरी के लिए भी वह स्वयं ही जाते थे, क्या उन्हें सघहित का विचार नहीं आता था? इससे स्पष्ट है कि स घहित के नाम पर स घ की मर्यादाओं को भंग करना और लक्षणशान आदि उपयोग करना अनुचित है।

अभिप्राय यह है कि लक्षण बतलाना, कौतुक बतलाना अथवा धन एव पुत्र की प्राप्ति के उपाय बतलाना साधुता से पतित होने के समान है। शास्त्रकार ऐसी विद्या को कुत्सित विद्या कहते हैं। इन कुत्सित विद्याओं द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालों को शास्त्रकार ने आस्रवद्वार द्वारा

आजीविका-निर्वाह करने वाला कहा है । ऐसी विद्याएँ अन्त समय में शरणदात्री नहीं बनतीं, वरन् स यममार्ग का नाश करने वाली साबित होती हैं। अतएव समझना चाहिए कि ऐसी विद्याओं द्वारा आजीविका चलाना अनाथ बनना है ।

कुत्सित विद्याओं से बचने के लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि नाथ कौन है ? और लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कुतूहल आदि का ज्ञाता और उसका उपयोग करने वाला सनाथ है या अनाथ ? यह विद्याएँ सनाथ बनाती हैं या अनाथ ?

आत्मा को सनाथ बनाने का अर्थ है—इस प्रकार स्वतत्र बनाना कि उसमें किसी भी प्रकार की परवशता—गुलामी—न रह जाय। ऐसी विद्याओं से नाथ बनना शक्य होता तो देवता तो इनमें परिपूर्ण होते हैं। वे वैक्रिय लब्धि से जो चाहें, कर सकते हैं। फिर भी वे उनकी बदौलत सनाथ नहीं, अनाथ बनते हैं।

नाथ किस प्रकार बनना होता है, यह बात अनाथ मुनि पहले ही बतला चुके हैं। उन्होंने कहा है कि मत्र और विद्या के ज्ञाता लोगों ने मुझे स्वस्थ करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे, परन्तु मेरा रोग दूर नहीं हुआ। यह विद्याएँ सनाथ बनाने वाली होतीं तो इनके प्रयोग से मेरा रोग क्यों न चला गया होता ?

कहा जा सकता है—अनाथ मुनि का रोग न मिटा तो क्या हो गया ! मत्र आदि के प्रयोग से रोग मिटता तो है ही। परन्तु कदाचित् मंत्रविद्या आदि से रोग चला भी जाय तो उसके बाद यही विचार आता है कि जो भी शक्ति है इन्हीं में है ; अतएव यही मेरे लिए वन्दनीय और पूजनीय

हैं। यह तो एक साधारण नियम है कि जिस भावना से रोग दूर होता है, उसके प्रति गुलामी आ जाती है। इसी कारण अनाथ मुनि कहते हैं कि— बड़ा अच्छा हुआ कि मंत्र-विद्या से मेरा रोग न मिटा और संयम की भावना से मिटा। और यह भी बहुत अच्छा हुआ कि संयम कि भावना करने से मैं सनाथ अनाथ का भेद भी समझ गया।

अब आप यह विचार कीजिए कि आप सनाथ बनने के लिए साधु की संगति करते हैं या अनाथ बनने के लिए? साधु की संगति सनाथ बनने के लिए ही की जाती है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि—लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कुतूहल आदि का प्रयोग करने वाले को निर्ग्रन्थ समझ कर यदि उसका शरण ग्रहण करोगे तो अनाथ ही रहोगे। लोग लक्षण आदि द्वारा रोग मिटाना चाहते हैं, परन्तु उन्हें विचार करना चाहिए कि रोगों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? रोग अनाथता से ही उत्पन्न होते हैं। मन्त्रविद्या आदि से अनेक बार रोग मिटाये गये, पर अनाथता नहीं मिटी और रोग भी नहीं मिटे। अतएव अनाथता में से निकल कर सनाथ बनने की भावना करो। अनाथ से सनाथ बनोगे तो रोग भी सदा के लिए चले जाएँगे। कदाचित् अनाथ मुनि की भाँति एकदम सनाथ न बन सको तो भी भावना तो सनाथ बनने की ही रक्खो। सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी समय सनाथ भी बन सकोगे।

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

मन्त्र तंत्र आदि की सहायता लेने का त्याग करने में असमर्थ हो तो भी भावना तो उनके त्याग की ही रक्खो। कदाचित् तुम कहोगे कि इस भव में तो हम से मंत्र तंत्र आदि की सहायता का त्याग नहीं हो सकता, किन्तु

जो साधु बना है, वह नहीं कह सकता कि इस भव में तो साधुपन पालूँगा नहीं, अगले भव में देखा जायगा। अगर साधु होकर भी कोई ऐसा कहता है और लक्षण, स्वप्न, निमित्त आदि बताने के फंदे में पड़ता है, उसे विचार करना चाहिए कि उसका मन शास्त्र को प्रमाण भूत मानता है या लक्षण आदि को ?

कहा जा सकता है कि साधुओं में भी धर्म कहाँ है ? धर्म होता तो उन्हें रोग ही क्यों होते ? परन्तु सच्चा महात्मा तो शरीर में रोग रहने ही देना चाहता है। वह रोग को दूर नहीं करना चाहता ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर में जब रोग उत्पन्न हुए थे, तब उन्होंने रोगों को मिटाने का उपाय न करके संयम धारण किया था। वह चाहते तो छह खण्ड के स्वामी होने के कारण अनेक उपाय कर सकते थे। पर उन्होंने रोग मिटाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने उलटा यह कहा कि रोग तो मेरे मित्र हैं जो मुझे जाग्रत करने के लिए आये हैं। संयम धारण करने के पश्चात् देवों ने उनके पास आकर कहा—आपके शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये हैं। आप हमारी औषध लें तो सब रोग दूर हो जाएँगे। इस कथन के उत्तर में सनत्कुमार ऋषि ने कहा—मुझे दो प्रकार के रोग हैं। एक तो आत्मा का है और दूसरा शारीरिक रोग हुआ है। आत्मा को कर्मों का रोग लगा है। तुम इनमें से किसी रोग को मिटा सकते हो ? कर्म के रोग को मिटा कर आत्मा को नीरोग बनाना चाहते हो या शरीर के ही रोग को मिटाना चाहते हो ?

देव—कर्म का रोग मिटाना मेरे सामर्थ से बाहर है। मै तो शरीर के रोग को मिटाना चाहता हूँ।

ऋषि—इसमें क्या रक्खा है। शरीर के रोग को तो मैंने ही टिका रक्खा है और इसी कारण वह बना है ऐसा न होता तो वह टिक ही नहीं सकता था।

ऐसा कह कर उन्होंने अपनी एक उंगली शरीर के उस भाग को लगाई, जहाँ रोग था। उंगली का स्पर्श होते ही वह भाग कंचन वर्णी हो गया। तब ऋषि बोले—शरीर का रोग तो इस तरह दूर किया जा सकता है। परन्तु यह रोग तो मेरा मित्र है, क्योंकि इसने ही मुझे जाग्रत किया है। अतएव मैं अपने इस रोग-मित्र को दूर नहीं करना चाहता। मैं इसी मित्र की सहायता से कर्म रूप आन्तरिक रोग को नष्ट करना चाहता हूँ।

इस प्रकार सच्चे महात्मा रोग को मित्र मानते हैं। इस कथन का अर्थ यह न समझिए कि स्थविरकल्पी साधु दवा का उपयोग ही नहीं करते। वे दवा तो लेते हैं, मगर दवा से अपने आपको सनाथ हुआ नहीं मानते।

संसार के लोगों! तुम चमत्कार देखना चाहते हो तो मंत्र-तंत्र का चमत्कार क्या देखते हो, भावना का चमत्कार देखो। मंत्र तंत्र की अपेक्षा भावना में अनन्त गुणा चमत्कार है। पर तुम उस पर विश्वास नहीं करते। तुम स्वदेश और स्वविचार को भूल कर दूसरों पर ही विश्वास करते हो। वे अपनी भावना की ओर दृष्टिपात नहीं करते। वे सोचते हैं—डाक्टर के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता।

एक शिक्षक ने मुझे जो वृत्तान्त सुनाया, उससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने बतलाया—मेरे शरीर में माथे की बराबर फोड़ा हुआ था। मेरा शरीर शक्कर की बीमारी से ग्रस्त था। सारा शरीर सूज गया था। मर जाने का भय लगा तो ऑपरेशन कराने का निश्चय किया। परन्तु मेरी पत्नी को न जाने क्यों, धुन सवार हुई कि ऑपरेशन न कराया जाय! उसने हठ पकड़

लिया। लोग कहने लगे - ऑपरेशन कराये बिना यह बचेगा कैसे ? इसी बीच आबू के एक साधु अनायास ही मेरे घर आ पहुंचे। उन्होंने मेरा रोग देखकर चावल से भी छोटी एक टिकड़ी नागरवेल के पत्ते में देकर कहा - ऑपरेशन न कराना और यह टिकड़ी प्रतिदिन एक-एक खाना। 'तुझे शक्कर की बीमारी है, अतः शक्कर न खाना। हाँ, घी-गुड़ के बने लड्डू जितने खाये जा सकें खाना और सातवें दिन पेशाब की परीक्षा कराना।

इतना कह कर साधु चले गये । मैंने उनके कथनानुसार दवा लेना आरंभ किया। शक्कर की बीमारी में गुड़ जहर का काम करता है। डाक्टरों ने गुड़ खाने की मनाई भी की, पर मैंने उनकी बात नहीं मानी। साधु के वचन पर विश्वास करके घी-गुड़ खाना चालू रक्खा। सातवें दिन तीन डाक्टरों ने मेरे पेशाब की परीक्षा की। उसमें शक्कर का लेश मात्र भी उन्हें मालूम न पड़ा।

कह सकते हो कि ऐसी दवा देने वाले मिलते कहाँ हैं ? किन्तु विश्वास और भावना रक्खो तो न जाने कब, कौन, कहाँ से आकर मिल जायगा ! श्रद्धा की शक्ति बहुत प्रचण्ड है। अपनी भावना से काम करोगे तो अपनी भावना पर विश्वास होगा और दूसरे के सहारे काम करोगे तो दूसरे के गुलाम बनोगे। ऐसी स्थिति में तुम डॉक्टर पर विश्वास रखते हो तो अपनी ही भावना पर क्यों विश्वास नहीं करते ? सनत्कुमार ऋषि ने बहुत दिनों तक शरीर में रोग रहने दिये; मगर वे अपनी भावना पर ही दृढ़ रहे तो कर्मों को नष्ट करके मुक्त हो गये।

अतएव मंत्र, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओं का भरोसा मत करो। अन्त में, ये विद्याएँ शरण-दात्री नहीं होती। इसका प्रयोग करने वाले लोग थोड़ी

देर के लिए सासारिक मान प्रतिष्ठा चाहे प्राप्त कर लें, संसार के लोभी लोगों को ठग कर आजीविका भले कर लें, लेकिन मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। संसार में इस उपाय से जमाया हुआ क्षणिक प्रभाव, मोक्ष-मार्ग का बाधक है। ऐसे लोग, अनाथ के अनाथ ही हैं।

जैन शास्त्रों में तो साधुओं के लिए स्वप्न लक्षण आदि का फल बताना मना ही है लेकिन अन्य ग्रन्थकार भी निषेध ही करते हैं। संन्यासाश्रम की विधि बताते हुए मनुस्मृति में कहा है—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित्॥

अध्याय ६ ठा

अर्थात्—(संन्यासी) भूकंप आदि उत्पात, निमित्त, नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) और अग-विद्या (सामुद्रिक) बतलाकर, तथा धर्म एवं नीति का उपदेश देकर बदले में कदापि भिक्षा प्राप्त न करे।

संयम लेकर, फिर अहिंसादि पंच महाव्रत की विराधना करने, पंच समिति का पालन न करने और स्वप्न लक्षण आदि का फल बताने से, क्या हानि होती है, यह बताने के लिए सनाथी मुनि कहते हैं—

तमं तमेणेव उ से असीले
सया दुही विप्परिया मवेति।
संधावई नरग तिरिक्ख जोणी
मोणं विराहेत्तु असाहु रूवे॥४६॥

अर्थ—संयम की विराधना करने वाला साधुलिंगधारी दुखी होता हुआ विपर्यास को प्राप्त होता है, यानी उल्टा समझता तथा करता है। इस

कारण वह असाधु संयम स्वीकार करने पर भी नरक तिर्यंच गति के कार्य करता है और नरक तिर्यंच गति में भ्रमण करता रहता है।

राजा, जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसे भूल जाना और उसके विपरीत कार्य करना, दुःख का कारण है। संयम के विराधक लोग, संसार में चाहे सुखी भी देखे जाते हों, लेकिन संसार में दिखनेवाले सुख के पीछे, बहुत दुःख छिपा हुआ है। सासारिक सुख ही तो जन्म मरण का कारण है। साधुपने में, सासारिक सुख, यश, वैभव, कीर्त्ति आदि की चाह करना, उनकी प्राप्ति के उपाय करना, साधुपने के लक्षण नहीं हैं। साधुपने में तो इन सब का बलिदान करना होता है। साधुपना लेकर, उत्तम ज्ञान, दर्शन और चरित्र की अराधना करनी चाहिए। जो लोग, साधु होकर भी सासारिक सुखों की अभिलाषा करते हैं, वे अपनी गाठ में बँधे हुए चिंतामणि रत्न को देकर बदले में पत्थर ले रहे हैं। जो मनुष्य सयम रूपी चिंतामणि रत्न खोकर, बदले में सासारिक सुख, यश, कीर्ति आदि रूपी पत्थर लेता है, वह सुखी कैसे हो सकता है? वह तो सदा ही दुःखी रहता है और मरने पर नरक या तिर्यंच गति में जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है, कि साधुपना लेकर असयमी में पड़नेवाला, आखिर साधुपने का—अपने वेष का—कुछ भी तो ध्यान रखता ही होगा। वह जो भी सासारिक सुख भोगता होगा, वह गृहस्थ की अपेक्षा थोडे और गृहस्थ के दिये हुए या उनके जूठे। ऐसा होते हुए भी, उस द्रव्यलिंगी साधु को नरक तिर्यंच की गति प्राप्त होती है, तो फिर गृहस्थों का तो कभी कल्याण ही नहीं हो सकता! गृहस्थों को तो इससे भी भारी दण्ड भोगना पड़ता होगा! यदि गृहस्थों को इससे भारी दण्ड नहीं भोगना पड़ता है, तो फिर

द्रव्यलिंगी साधु को, थोड़े से सांसारिक सुख भोगने के कारण ऐसा कठिन दण्ड क्यों प्राप्त होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि गृहस्थ जो सासारिक भोग भोगता है, वह अपनी की हुई किसी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर नहीं, किन्तु प्रतिज्ञा पर स्थिर रहकर। वह, सासारिक भोगों के लिए, छल कपट नहीं करता। यह नहीं करता, कि सासारिक भोग भी भोगे और साधु-वेश पहनकर, अपने आपको पंच महाव्रतधारी भी प्रसिद्ध करे। वह जो कुछ भी करता है, चुरा छिपा कर नहीं करता है। लेकिन द्रव्यलिंगी साधु, अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर सासारिक विषय-भोग भोगता है। वह, गृहस्थों की तरह गृहस्थ-वेश में सासारिक सुख नही भोगता, किन्तु उस वेश में भोगता है, जो सासारिक-भोग त्यागने वालों का है। गृहस्थों के पास, सासारिक भोगों के साधन भी रहते हैं, इसलिये उन्हें छल कपट नहीं करना पड़ता, लेकिन संयम में प्रव्रजित होने वाला, ऐसे साधनों को, सयम में प्रव्रजित होने के समय ही त्याग चुकता है। इसलिए उसे, सासारिक भोग के साधन जुटाने में, छल कपट से काम लेना होता है। उदाहरण के लिए, गृहस्थ के पास स्त्री है, लेकिन द्रव्यलिंगी, स्त्री आदि त्याग कर ही संयम में प्रव्रजित हुआ था, इसलिए उसके पास स्त्री नहीं है। अब यदि वह स्त्री भोग भोगेगा, तो पर-स्त्री के साथ ही और पर स्त्री प्राप्त करने में उसे न मालूम कैसे कैसे छल कपट का आश्रय लेना होगा। यही बात धन वैभव आदि के लिए भी है। तात्पर्य यह, कि द्रव्यलिंगी एक तो त्यागियों के वेश में सासारिक सुख भोगता है। दूसरे, प्रतिज्ञा के विपरीत कार्य करता है। तीसरे, सासारिक भोग प्राप्त करने में, छल कपट से काम लेता है। और चौथे, गृहस्थों की अपेक्षा

उसकी लालसा बढ़ी हुई होती है। इन्हीं कारणों से, वह, ऐसे कठिन दण्ड का पात्र है। शास्त्र में कहा है—

माई मिच्छा दिट्ठी अमाई समदिट्ठी।

अर्थात—माया छल-कपट करने वाला मिथ्यादृष्टि है और माया नहीं

साधु वेश में रहकर, जो सासारिक भोग भोगता है, वह, छल-कपट करने वाले मिथ्यादृष्टि के समान है। इसीलिए उसे, सनाथी मुनि के कथनानुसार कठिन दण्ड प्राप्त होता है। गृहस्थों में भी, जो छल कपट करने वाला है, जो प्रतिज्ञा भ्रष्ट है, एव व्रत-नियम का पालन नहीं करता है, वह भी ऐसे ही कठिन दण्ड का पात्र है।

बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं, जो व्रत-नियम के विरुद्ध कार्य करके, उस विरुद्ध कार्य को, व्रत-नियम के अन्तर्गत ही बतलाते हैं, या अपवाद-मार्ग के कार्य की प्ररूपणा, उत्सर्ग मार्ग में करते हैं। ऐसे उत्सूत्र प्ररूपक भी उसी दण्ड के पात्र हैं, जो सनाथी मुनि ने ऊपर बताया है।

अनाथ मुनि कहते हैं—आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दन वन और कामधेनु के समान है। इस कथन पर गहरा विचार करके ऐसी भावना करनी चाहिए कि—'आत्मन्! तुझे वैतरणी नदी मिले तो कैसा कष्ट हो? तुझे कूटशाल्मली वृक्ष के नीचे बैठा दिया जाय और ऊपर से तलवार की धार के समान तीखी धारवाले पत्ते गिराये जाएँ तो तेरी क्या दशा हो?'

अगर आत्मा को इस प्रकार की वेदनाओं का ध्यान बना रहे तो क्या उसमें कोई विकार रह सकता है? एक उदाहरण लीजिए:—

अध्यात्मिक विचार वाला एक राजा ध्यान में मग्न होकर बैठा था। उसी समय एक बहुरूपिया उसके सामने आया और उसे हँसाने का प्रयत्न करने लगा। मगर राजा हँसा नहीं वह पहले की ही भांति गंभीर होकर बैठा रहा।

जब राजा का ध्यान पूर्ण हुआ तो बहुरूपिया ने राजा से कहा—बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं आपको हँसा नहीं सका इसका क्या कारण है?

राजा ने विचार किया—मैं क्यों नहीं हँसा, यह बात इसे अनुभव करा कर समझानी चाहिए। अनुभव किये बिना यह ठीक तरह समझ नहीं सकेगा।

इस प्रकार विचार कर राजा ने, एक कुए पर टूटी-सी कुर्सी रखवाई। कुर्सी इतनी जीर्ण थी कि देखते ही ऐसी जान पड़ती थी कि अभी अभी टूट जायगी। उस कुर्सी के ऊपर पतले धागे से एक नंगी तलवार लटकाई गई। इसके बाद बहुरूपिया को उस कुर्सी पर बैठने का आदेश दिया गया और हँसाने वालों से कहा गया—इस बहुरूपिया को हँसाने का भरसक प्रयत्न करो। उन लोगों ने बहुरूपिया को हँसाने के सभी सम्भव प्रयत्न किये, परन्तु वह हँसा नहीं। तब राजा ने उसे अपने पास बुला कर पूछा—इतना अधिक प्रयत्न करने पर भी तुम हँसे क्यों नहीं? बहुरूपिया बोला—मैं हँसता कैसे? मेरे सिर पर तलवार लटक रही थी और भय था कि वह गिरने ही वाली है। दूसरी ओर यह डर लग रहा था कि अभी कुए में गिरा। ऐसी विषम परिस्थिति में हँसी आती तो कैसे आती?

तब राजा ने कहा—तो इसी प्रकार ध्यान में मैं विचार कर रहा था कि यह आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है।

ऐसी स्थिति में मुझे भी कैसे हँसी आती ?

इस प्रकार विचार करने से किसी किसी का मोह उड़ जाता है और संसार से भय उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर संसार के पदार्थ ललचा नहीं सकते। हँसी आने की तो बात ही दूर।

अभिप्राय यह है कि अनाथी मुनि के कथन पर गहरा विचार किया जाय तो संसार के पदार्थ बन्धन-कर्त्ता नहीं हो सकते और आत्मा मोह में नहीं पड़ सकता। अगर सांसारिक पदार्थों के प्रति मोह किया जाय तो आत्मा वैतरणी नदी या कूटशाल्मली वृक्ष रूपी कुए में और तलवार गिर पड़ने की स्थिति में पड़ जाता है। यद्यपि यह विचार प्रत्येक विवेकशील को करना चाहिए; किन्तु जो साधु होकर भी विशेष विचार नहीं करता, उसके विषय में तो यही समझना चाहिए कि वह अन्धकार में से निकल कर अन्धकार में जा रहा है। उपनिषद् में कहा है:—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

अर्थात्—अविद्या की उपासना करने वाले अंधे तम में प्रवेश करते हैं।

वस्तुतः अविद्या ही अन्धकार है। साधारणतया अविद्या का वर्णन बहुत विस्तृत है। संक्षेप में जैनशास्त्र जिसे 'मोहजनित दशा' कहते हैं वह अविद्या है। नित्य में अनित्य, अनित्य में नित्य, आत्मा में अनात्मा, अनात्मा में आत्मा समझना—अभ्यास करना ही अविद्या है। शास्त्र में कहा है,—:

जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना।

अर्थात्—जीव को अजीव मान बैठना और अजीव को जीव समझ लेना ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व अविद्या या मोह कहलाता है।

अविनाशी को नाशवान् और नाशवान् को अविनाशी मानना अविद्या है। इस प्रकार की अविद्या वाला अन्धकार में ही है। यद्यपि यह अविद्या है, परन्तु जो प्रकृति को नहीं मानता या संसार को नहीं मानता और केवल विद्या की ही बात करता है, वह और भी अधिक अंधकार में है। अर्थात् जो चेतन को ही मानता है, जड़ को नहीं मानता, विद्या को ही मानता है, अविद्या को नहीं मानता वह अन्धकार में है। जो विद्या और अविद्या को यथास्थान मानकर अविद्या का त्याग करता है, वही वास्तव में आत्मतत्त्व को जान सकता है।

अतएव मनुष्य को जड़-चेतन का विवेक करके ऐसा मानना चाहिए कि—हे आत्मन्! इस ससार में दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है। तू ही अपने आपको दुःख देने वाला है।

जो इस प्रकार विचार करेगा, उसका चित्त क्या ससार में अनुरक्त होगा? नहीं। जो इस प्रकार की सवेदना का ध्यान रखता है, उसका चित्त ससार में जायगा ही नहीं। उसका मन तो अमृत-भावना में ही अवगाहन करेगा। जो महात्मा इस तथ्य को भली-भाति समझते हैं, वे संसार की वस्तुओं में लुब्ध नहीं होते। वे उनसे विरक्त रहते हैं। वे किसी की निंदा में भी नहीं पड़ते, वरन् राग द्वेष का त्याग करके आत्मा का कल्याण-साधन करते हैं।

जब किसी मनुष्य को चाबुक मारे जाते हैं तो एक चाबुक मारने के बाद दूसरा चाबुक मारने जाते थोडे समय का व्यवधान पड ही जाता है। पर किसी को बिजली ही पकड़ा दी जाय तो क्या उसमें थोडे समय का भी व्य-वधान पड़ेगा? नहीं। बिजली तो अन्तिम श्वास तक निरन्तर ही दुःख देती रहेगी। इसी प्रकार अज्ञान भी सदैव दुःख देने वाला है।

हमेशा का दुःख कैसा होता है ? इसकी व्याख्या करते हुए ज्ञानी जन कहते हैं—संसार के लोग जिसे सुख मानते हैं, उसे हम दुःख ही मानते हैं। बीमार आदमी कुपथ्य पदार्थ खाने में आनन्द मानता है, पर ज्ञानी तो उससे यही कहेगा कि तू यह क्या कर रहा है ? अरे, यह तो और भी अधिक हानिकारक है। इस प्रकार बीमार जिसमें सुख मानता है, डाक्टर उसी को दुःख रूप बतलाता है। आप इन दोनों में से किसका कहा मानेंगे ? यही कहोगे कि डाक्टर का कहना ही ठीक है। इसी प्रकार सांसारिक जन अज्ञान के कारण जिसमें सुख मानते हैं, ज्ञानी जन उसको ही दुःख रूप मानते हैं।

दुख ने सुख करि मानियो, भमियो काल अनन्त।
लख चौरासी योनि में, भाख्यो श्री भगवन्त।
मुक्ति को मारग दोयलो।

अज्ञानग्रस्त आत्मा सुख को दुःख और दुःख को सुख मान रहा है। इसी कारण उसे भगवान् का मार्ग कठिनाइयों से परिपूर्ण प्रतीत होता है। आत्मा में यही अपूर्णता है। यह भ्रम - विपर्यास दूर हो जाय तो भगवान् का मार्ग सरल बन सकता है।

एक मित्र ने दूसरे मित्र से कहा—संसार उलटे रास्ते चल रहा है। वह दुःख को सुख मान रहा है।

दूसरा मित्र बोला—तुम भूल रहे हो। कोई दुःख को सुख मान नहीं सकता।

पहला मित्र—मैं ठीक कहता हूँ। नैतिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार के जीवन में यही हो रहा है।

दूसरा मित्र—पर यह कैसे संभव हो सकता है ?

पहला—क्या आप ऐसे लोगों को नहीं देखते जो कहते हैं कि कल कुछ भी हो, आज तो मौज उड़ाएँगे ही ! गाजा-भग और शराब पीकर आनन्द करेंगे ? जो लोग गाजा, भंग या शराब का सेवन करते हैं, क्या वे उसमें दु:ख मान कर सेवन करते हैं ? वे उसके सेवन में सुख समझते हैं, पर वास्तव में वह सुख है या दु:ख ? वेश्यागमन, चोरी आदि सुख मानकर किये जाते हैं या दु:ख मान कर ? दु:ख मानने वाला इनका आचरण कैसे करेगा ? यद्यपि लोग इन कार्यों में सुख समझते हैं, परन्तु वास्तव में तो उनमें दु:ख ही है।

इस प्रकार संसार में जितने भी दुष्कर्म हैं, सब सुख मान कर ही किये जाते हैं। सारा संसार दु:ख को सुख समझने की भ्रान्ति में पड़ा है। लोग अपने लड़कों को सुधारने के लिए कालेज में भेजते हैं, परन्तु वहाँ भेजने पर किस प्रकार कुलपरम्परा और धर्म का विनाश होता है, यह कौन समझता है ! फिर भी लोग अपने लड़कों को इसी उद्देश्य से भेजते हैं कि लड़का पढ़-लिख कर सुखी हो जायगा। परन्तु सुना जाता है कि कालेज-जीवन में भी बड़ी अनैतिकता फैली हुई है। जब तक नैतिक जीवन में परिवर्तन न हो तब तक आध्यात्मिक जीवन ऊँचा नहीं उठ सकता। जिस गृहस्थ का जीवन नैतिक दृष्टि से ऊँचा होगा, साधु बन कर भी वह उच्च और प्रशस्त चारित्र का पालन करेगा।

मुनि कहते हैं—साधु बनते समय बनने वाले की भावना प्रायः यह नहीं होती कि हम पेट भरने के लिए साधु बनते हैं। उस समय तो वह यही सोचता है—पेट तो कौवा और कुत्ता भी भर लेता है। हम केवल

पेट भरने के लिए साधु नहीं बने हैं, वरन् स्व--पर कार्यों को सिद्ध करने के लिए साधु बने हैं।

इस प्रकार संयम ग्रहण करते समय ऐसी उच्च भावना होती है, परन्तु वाद में कई लोग उस उच्च भावना को भूल जाते हैं और सयम से पतित हो जाते हैं।

उद्देसियं कीयगडं निपागं,
न मुच्चइ किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवासव्वभक्खी भवित्ता,
इत्तो चुए गच्छइ कट्टु पावं ॥४७॥

अर्थ---सयम ग्रहण करके भी जो अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाता है, और औद्देशिक---अपने निमित्त बने, क्रीतकृत---साधु के लिए खरीद कर बनाये हुए, तथा निपागपिण्ड को ग्रहण करता है, इस प्रकार न लेने योग्य आहार-पानी को भी नहीं छोड़ता है, वह इस भव से च्युत होकर पाप करके दुर्गति का पात्र बनता है।

व्याख्यानः---संयम धारण कर लेने के पश्चात् आने वाली अनाथता के कारण बतलाते हुए अनाथ मुनि कहते हैं कि पाँच महाव्रतों का पालन न करने, पाँच समितियों का पालन न करने, स्वप्न-लक्षण आदि का फल बतलाने, कुतूहल-इन्द्रजाल आदि तमाशा दिखलाने के सिवाय अनाथता का एक कारण भोजन सबंधी मर्यादा का उल्लंघन करना भी है। वे कहते हैं---राजन्! साधुत्व की मर्यादा की अवहेलना करने वाले बहुत से साधु वेषधारी लोग अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाते हैं। जैसे अग्नि अपने में पड़ी हुई

सब वस्तुओं को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार वे द्रव्यलिंगी साधु भी ज कुछ और जैसा कुछ मिलता है, उसे गटक जाते हैं। वे भक्ष्य-अभक्ष्य या सदोष-निर्दोष आहार का विचार नहीं करते। यद्यपि साधु का कर्त्तव्य है कि वह एषणासमिति का सम्यक् प्रकार से पालन करे, परन्तु वह अपने इस कर्त्तव्य का तनिक भी ध्यान नहीं रखता। वह दूषित आहार भी ले लेता है।

राजा, कुशीललिङ्गी, स्वाद या शरीर को पुष्ट करने के लिए, अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर, एषणासमिति को भुला तो देता है, जिस तरह अग्नि अपने में पड़े हुए दुर्गन्ध युक्त, गीले और अपवित्र आदि सभी पदार्थों को भस्म कर देती है, इसी प्रकार वह भी, उद्देशिक, क्रीत, नित्यपिण्ड और अप्रासुक आदि अशुद्ध आहार लेकर खा तो लेता है, लेकिन मरण निश्चय है। संसार का कोई भी जीव, मरने से नहीं बच सकता, तो क्या ऐसा करनेवाला कुशीललिंगी न मरेगा? अवश्य मरेगा और उस ऐसा करनेवाले कुशीललिंगी का आत्मा, हृष्ट पुष्ट शरीर एवं रसलोलुप जिह्वा को छोड़कर महान् दुर्गति मे जावेगा। उसने, रसलोलुप बन-कर, संयम का नाश किया है, इसलिए कटुपाप कर्म के फल को प्राप्त करेगा।

राजा, वह असाधु जब गृहस्थ था, तब इच्छानुसार भोजन बना कर या बनवा कर खा लेता। लेकिन उसने यह इच्छा की कि अब, मैं इच्छित भोजन नहीं करूँगा, किन्तु ऐसा भोजन करूँगा, जो मुझे शुद्ध-भिक्षा में मिल जावे। इस समय, मेरे भोजन के लिए, अनेक त्रस, स्थावर जीव को कष्ट होता है। मैं, अपने खाने के लिए ही, त्रस, स्थावर जीव को कष्ट देता हूं। लेकिन अब, मैं, किसी त्रस, स्थावर जीव को, अपने भोजन के लिए, कष्ट न होने दूंगा, किन्तु इस प्रकार भिक्षा करके क्षुधा मिटाऊंगा, जिस

तरह भ्रमर, बिना निश्चय किये ही फूलों का रस लेने के लिए जाता है और एक ही फूल से नहीं, किन्तु अनेक फूलों से रस लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। मैं भी भ्रमर-भिक्षा से अपना पेट भरूँगा, जिसमें मेरे भोजन के कारण, किसी भी त्रस, स्थावर जीव को कष्ट न हो। अब मैं, रसलोलुप न रहूँगा।

राजा, इस प्रकार की भावना से, वह गृह-संसार त्याग कर साधु हो गया। वह, जब संयम में प्रव्रजित नहीं हुआ था, तब जैसा चाहता था, वैसा भोजन बना कर या बनवाकर खाता था, फिर भी, उसके लिए उपालम्भ की कोई बात न थी। लेकिन, उक्त भावना से साधु हुआ और फिर भी उससे स्वादलोलुपता न छूटी, तो यह, प्रतिज्ञा के विपरीत एवं उपालम्भ का कार्य है। उस असाधु की रसलोलुपता से, अनेक त्रस, स्थावर जीव की हिंसा होती है, फिर भी, वह जैसा इच्छित भोजन गृहस्थावस्था में कर सकता था, वैसा भोजन प्राप्त नहीं कर पाता। इस कारण उसका चित्त, स्वादिष्ट भोजन के लिए सदा लालायित रहा करता है। इन्हीं कारणों से, वह दुर्गति में जाता है।

राजा, संयम का पालन करने वाले लोग अपने लिए बनाया गया, या अपने लिए खरीदा हुआ आहार नहीं लेते। क्योंकि ऐसा आहार लेने से, साधु के लिए अनेक त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार, साधु, नित्य एक ही घर से भिक्षा नहीं किया करते। एक ही घर से भिक्षा लेते रहने पर उस घर वाले को यह मालूम रहता है, कि साधु आवेंगे, इसलिए वह, साधु के वास्ते विशेष तैयारी करता है—विशेष भोजन बनवाता है—जिससे साधु के लिए, त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा होती है।

संयमी लोग, भिक्षा में वैसा ही आहार ले सकते हैं, जो बयालीस दोष से रहित हो। वे उद्देशिक, क्रीत, नित्यपिंड तथा आमन्त्रित होकर या पहले से सूचना देकर आहार नहीं लेते। लेकिन कुशीललिंगी लोग, भोजन संबंधी इन नियमों का पालन नहीं करते। वे, एषणिक एवं अनैषणिक दोनों ही प्रकार का आहार लेते और खाते हैं। परिणाम यह होता है, कि ऐसे लोगों को इस लोक में भी सम्मान-पूर्वक आहार नहीं मिलता—अनादर-पूर्वक आहार मिलता है, और परलोक में भी, दुर्गति मिलती है।

जैन-भिक्षु के लिए, भिक्षा सम्बन्धी जो विधि बताई गई है, बहुत अंश में वैसी ही विधि, अन्य ग्रन्थों में भी बताई गई है। जैसे—

विधूमे न्यस्तमुसले व्यगारे भुक्तवज्जने।
अतीते पात्र संपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत्।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्ष्य भिक्षितं नानुभिक्षयेत्॥

शंखस्मृति अ० ७ वां

अर्थात्—गृहस्थों के यहां जब मूसल चलना-कूटना-बन्द होगया हो, धुआँ न निकलता हो, गृह के लोग भोजन कर चुके हो और जल-पात्रादि का रखना उठाना न हो रहा हो, उस समय यति, भिक्षा के लिए जावे। यति सात घर से भिक्षा ले और जिस घर से पहले भिक्षा ले चुका है, उस घर से भिक्षा न ले।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसव्रजेत॥

मनुस्मृति अ० ६ ठा

अर्थात्—संन्यासी, उस घर में भिक्षा के लिए कदापि न जावे, जिस

घर में भोजन के लिए आये हुए तापस, ब्राह्मण, कुत्ते, कौए या दूसरे भिक्षुक मौजूद हों।

इस प्रकार जैन शास्त्र और इतर शास्त्र में भी त्यागियों के लिए भोजन स बंधी मर्यादाएँ बतलायी गई हैं। जैन शास्त्र में कहा है—

पिण्डं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थ पायमेव य।
अकप्पिय न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं॥
—दशवैकालिक सूत्र

साधुओं को अकल्पनीय आहार, वस्त्र, पात्र आदि लेना तो दूर रहा, लेने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। दीक्षा लेते समय अकल्पनीय आहार आदि न लेने की ही भावना होती है, पर बाद मे जब वह रसलोलुप बन जाता है तो छह काय की हिंसा से उसके लिए बनाया हुआ आहार लेने में भी वह संकोच नहीं करता। वह कहने लगता है कि कल्प-अकल्प की बात मत करो। कल्प-अकल्प को देखने की आवश्यकता नहीं है, केवल भाव शुद्ध होना चाहिए इस प्रकार कह कर वह कल्प की बात को ही उड़ा देने की चेष्टा करता है। परन्तु ऐसा करना शास्त्र से विरुद्ध है। सूयकृतागसूत्र के अनुसार बौद्धों में भले यह पद्धति चल सकती हो, परन्तु जैन-शास्त्र की दृष्टि से यह पद्धति कदापि मान्य नहीं हो सकती। जैन शास्त्रों में आहार सबंधी कल्प-अकल्प का बहुत विस्तृत वर्णन है। फिर भी जो कल्प-अकल्प का विचार नहीं करता, उसकी दशा उस मछली के समान होती है जो पानी से सन्तोष न मान कर, अन्य वस्तुओं के प्रलोभन में पड़कर मास के साथ काटा खा जाती है और अन्त में तड़फ-तड़फ कर मरती है। मछली जब मांस में लुब्ध होती है, तब उसे काटे का भा

होता नहीं । उसे भान हो जाय कि इस मास के पीछे काटा लगा है तो कदाचित् वह मास का भक्षण न करे। परन्तु वह अज्ञानवश काटे में फँसती है। किन्तु असाधु लोग तो इस प्रकार के आहार आदि में दोष जानते हुए भी खा जाते हैं। वे रस गृद्ध होकर अकल्पनीय आहार को भी नहीं छोड़ते। ऐसे अज्ञानी लोग मछली की अपेक्षा भी अधिक अज्ञानी कहे जा सकते हैं।

भगवान् ने दूषित अर्थात् अकल्पनीय वस्त्र, पात्र, आहार, मकान आदि लेने का निषेध किया है। प्रश्न होता है, यह निषेध करके क्या भगवान् ने अन्तराय डाला है? नहीं, उन्होंने साधुओं के कल्याण के लिए ही ऐसा किया है। फिर भी जो लोग कहते हैं कि — इसमें क्या रक्खा है? साधुओं को कल्प-अकल्प देखने की क्या आवश्यकता है? जिसने बनाया है, वही पाप का भागी होगा। ऐसा कहने वाले भूल करते हैं। अकल्पनीय वस्तु लेने में दोप न लगता होता तो भगवान् मनाई क्यों करते? साधुओं ने हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग किया है। अगर इस प्रकार का आहार लेने में साधुओं को दोप न लगता होता तो वे अपने हाथ से आहार क्यों न बना लेते? हाथ से भोजन बनाने में हिंसा होती है, सभी आस्तिक दर्शन एक स्वर से यह बात स्वीकार करते हैं, किन्तु जब हाथ से भोजन बनाने में हिंसा होती है तो तुम्हारे उद्देश्य से कोई दूसरा भोजन बनाएगा तो उसमें हिंसा नहीं होगी? पातञ्जल योगदर्शन में भी बतलाया गया है कि साधुओं को हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने—तीनों—का त्याग करना चाहिए। ऐसी दशा में स्वय हिंसा न करके दूसरों से हिंसा कराने में भी पाप होना स्वाभाविक है!

कदाचित् औद्देशिक आहार के संबंध में यह कहा जाय कि हमने आहार बनाया नहीं और बनवाया भी नहीं, फिर हमें पाप क्यों लगेगा ? किन्तु जो आहार तुम्हारे उद्देश्य से बनाया गया है और जिसे जान-बूझ कर तुमने लिया है, उसमें होने वाली हिंसा के अनुमोदन के पाप से तुम किस प्रकार बच सकते हो ? जब अनुमोदन के पाप के भागी हो गये तो फिर अहिंसा महाव्रत कहाँ अक्षुण्ण रहा ? साधु तो अनुमोदन के पाप का भी त्यागी होता है। इसीलिए साधु को औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

अब क्रीतकृत अर्थात् साधु के निमित्त खरीद कर तैयार की हुई वस्तु के विषय में विचार करें। कहा जा सकता है कि मुनि ने बनाया नहीं, बनवाया नहीं, अनुमोदा नहीं और खरीदा भी नहीं है। सिर्फ मुनि के लिए खरीद कर लाया गया है। इसमें क्या बाधा है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है--मुनियों को ऐसा आहार भी नहीं लेना चाहिए; क्योंकि बनाने वाले ने पैसे के लिए बनाया है और यदि पैसा देकर साधु के लिए खरीदा जाता है तो उसके बनाने में साधु का भी हिस्सा हुआ। रेलगाड़ी तुम्हारे लिए नहीं चलती, पैसे के लिए चलती है। परन्तु जब पैसा देकर उसमें बैठे तो उसके पाप में भागीदार बने या नहीं ?

लोग सीधी चीज कह कर न लेने योग्य वस्तु भी ले लेते हैं। परन्तु जिसके लेने में पाप न होता, भगवान् उसका निषेध क्यों करते ? दूसरे लोग सीधी चीज के चक्कर में पड़ जाएँ, यह बात अलग है, परन्तु जैन होकर इस चक्कर में पड़ जाना अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

कहा जा सकता है कि हम परम्परा से ऐसा ही करते आ रहे हैं; तो

इसका उत्तर यह है कि वंश-परम्परा से चला आने वाला रोग क्या रोग नहीं कहा जायगा ? क्या वह दूर नहीं किया जा सकता ?

भारत के लोग सीधी वस्तु के लोभ में बुरी तरह फँस गये हैं ! कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर अशुचि को उत्तम रीति से सुन्दर शीशी [illegible]

भी आनाकानी न करें ।

तात्पर्य यह है कि चाहे औद्देशिक हो या क्रीतकृत (खरीदा हुआ) हो, दोनों समान हैं ।

तीसरी बात नित्यपिण्ड की है । औद्देशिक या खरीदा आहार आदि न लिया जाय तो न सही, किन्तु नित्य आमंत्रित होकर आहार-पानी लेने में क्या हर्ज है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है नित्यपिण्ड लेना भी साधुओं के लिए पाप है । ऐसा करना अहिंसा की घात करने के समान है । यह तो तुम जानते हो कि कोई मनुष्य तुम्हारे घर आता है और जब वह भोजन करना स्वीकार करता है, तभी उसके लिए भोजन बनाते हो । अगर कोई पहले ही भोजन करने की मनाई कर दे तो उसके लिए भोजन क्यों बनाओगे ? इसी प्रकार अगर साधु प्रतिदिन आवे या तुम्हारे निमंत्रण को स्वीकार करे तो उसके लिए भोजन बनेगा, अगर वह कह दे कि हम प्रतिदिन नहीं आ सकते, हमें प्रतिदिन एक घर से भोजन लेना नहीं कल्पता, तो फिर गृहस्थ साधु के लिए भोजन क्यों बनाएगा ? यही कारण है कि साधु किसी के घर जाने की पहले से ही घोषणा नहीं करते । उनकी भिक्षा के संबंध में घरों का कोई नियम नहीं होता । अमुक दिन अमुक के घर जाने या दूसरे, तीसरे अथवा चौथे दिन उसी घर भिक्षा के लिए जाने से

भी, गृहस्थ को पता चल जाता है कि आज साधु हमारे घर आएँगे। इस कारण साधु को औद्देशिक, नित्यपिण्ड आदि का पाप लग जाता है। पाप से बचने के लिए आवश्यक है कि साधु पता ही न चलने दे कि वह किस दिन किसके घर आहार के लिए जाएगा ?

अनाथ मुनि कहते हैं -राजन्! कुशील साधु आहार आदि के दोषों का विचार त्याग देते हैं। वे अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाते हैं। वे कल्प-अकल्प की परवाह नहीं करते। कोई कल्प-अकल्प के विषय में कुछ कहता है तो उसे उलटा समझा देता है। ऐसा कुशील पुरुष भले थोड़े दिन मौज कर ले, किन्तु अन्त में तो उसे कटुक पाप फल प्राप्त होता ही है।

अनाथ मुनि कहते हैं—जो लोग साधु बनकर फिर अनाथ बन जाते हैं, वे अनाथ तो बनते ही हैं, साथ ही पतित बनते हैं। वे अपनी साधुता की कीमत नहीं समझते। पहले साधुता में दोष लगाना और फिर उस दोष को दोष न समझना साधुता से पतित होना है। अतएव साधुता का पालन करने में सावधान रहो। अरिहन्त की आज्ञा में चलने वाले को किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। कदाचित् किसी वस्तु की कमी प्रतीत हो तो उस समय विचार करना चाहिए कि मुझे तो परीषह सहन करके भी अरिहन्त की आज्ञा का आराधन करना है।

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अंगार रक्खे गये थे, फिर भी क्या उन्होंने सोचा कि 'भगवान् की शरण में आने पर भी मेरे मस्तक पर अंगार रक्खे जा रहे थे, फिर भगवान् की आज्ञा मानने का फल ही क्या हुआ ? गजसुकुमार मुनि ऐसा सोचते तो गजब ही हो जाता। गजसुकुमार के निर्वाण के पश्चात् श्रीकृष्ण के कथन के उत्तर में भगवान्

अरिष्टनेमि ने कहा था—'गजसुकुमार मुनि को एक सहायक पुरुष मिल गया था।'

जब भगवान् ऐसा कहते हैं तो स्वयं गजसुकुमार की भावना कैसी रही होगी? इस घटना को अपने सामने रख कर जब किसी बात की कमी मालूम पड़े तो यही विचार करो कि मुझे तो भगवान् की आज्ञा का पालन करना है। कभी आहार न मिले तो विचार करो कि आज मुझे आहार नहीं मिला और बहुत क्षुधा सता रही है, किन्तु इस प्रकार की भूख तो मैंने बहुत बार सहन की है। ऐसा विचार करके समभाव के साथ वेदना को सहन कर लेना चाहिए और भगवान् का भजन करना चाहिए।

इस भावना को समक्ष रख कर सङ्कट के समय कुछ विचार रक्खे जाएँ तो भले शरीर-पात हो जाय, फिर भी आत्मा का तो कल्याण ही होगा। तो इस प्रकार दृढ रह कर धर्म का पालन करना है, उसे किसी प्रकार की अपूर्णता प्रतीत नहीं होती। शास्त्र मे कहा है —

देवा वि त नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो।

जिस दृढ़धर्मी के चरणों मे देवता भी नमस्कार करते हैं, उसे किसी चीज की कमी नहीं हो सकती।

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पाणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दया विहूणो ॥ ४८ ॥

अर्थात्—दुरात्मा अपना जितना अहित करता है, उतना गला

काटने वाला दयाविहीन वैरी भी नहीं करता। मृत्यु के मुख में पड़ने पर दुरात्मा को घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मुनि कहते हैं—राजा, ससार में वैरी को अहित करने वाला माना जाता है। जो जितना अधिक अहित करे, वह उतना ही अधिक दुश्मन समझा जाता है। दुश्मन द्वारा अधिक से अधिक अहित गला काटने का होता है, इससे अधिक कोई अहित वैरी द्वारा नहीं माना जाता। यह, वैरी द्वारा होने वाले अहित की चरम सीमा है। सासारिक लोग कहते ही हैं, कि, अमुक व्यक्ति यदि हमारा वैरी है, तो अधिक से अधिक हमारा गला काट डालेगा, और क्या करेगा? अर्थात्, वैर पूरा करने की सीमा इतनी ही है, इससे अधिक वैरी कुछ नहीं कर सकता। यह भी वही वैरी करेगा, जो दयाहीन हो। लेकिन राजा, दुरात्मा से तो अपने आपका वह अहित होता है, जो अहित, वैरी कहलाने वाले से भी नहीं हो सकता। बल्कि वैरी बने हुए व्यक्ति को, सुआत्मा अपना हित करने वाला मानता है; जैसे कि गजसुकुमार मुनि, सोमल को अपना सहायक मानता था। ऐसे समय पर, सुआत्मा सोचता है, कि मैं इस मारने वाले से नहीं मर सकता, मैं तो अपने आप से ही मर सकता हूँ—यानी अपने कार्य्यों से ही दुःख पा सकता हूँ। यदि, वैरी द्वारा गर्दन कटने पर आत्मा में समता रहे तो वह गर्दन काटने वाला, मोक्ष प्राप्त कराने का साधन भी हो सकता है। लेकिन दुरात्मा अपने आपका, वैरी के गला काटने से भी अधिक अहित करता है। मृत्यु के मुख में पड़ने पर, दुरात्मा, अपने आप ही पश्चाताप की अग्नि से जलने लगता है। जिस समय वह नरकादि की वेदना भोगता है, उस समय पश्चाताप होता है, कि 'मैंने संयम स्वीकार करके भी उसकी विराधना

क्यों कर डाली ! मैं, थोड़े से नाशवान विषय-भोग के लोभ में क्यों पड़ गया ! यदि मैंने विषय लोलुपता से, या प्रमाद वश, संयम की विराधना न की होती, तो आज मुझे नरक तिर्यञ्च गति में जन्म लेकर, ये कष्ट क्यों भोगने पड़ते ? वे सांसारिक विषय-भोग जिनमें पड़ कर, मैंने संयम की विराधना की थी - वहीं रह गये, और मुझे ये कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। यदि मैंने, संयम का भली-प्रकार पालन किया होता, संयम की अवहेलना न की होती, तो आज मैं उस सुख में होता, जो सुख अविनाशी है।

यहाँ प्रश्न होता है कि गला काटने वाला वैरी तो प्रत्यक्ष में ही गला काटता है, शरीर नाश करता है, लेकिन दुरात्मा, अपने आपकी प्रत्यक्ष में ऐसी कोई हानि नहीं करता, फिर दुरात्मा को, कण्ठ काटने वाले वैरी से भी अधिक अपने आपका अहित करने वाला कैसे कहा ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सिर काटने वाला वैरी, शरीर का ही नाश करता है, आत्मा का वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता। केवल शारीरिक हानि ही हानि नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक हानि ही वास्तविक हानि है। आस्तिक लोग, आत्मा को अविनाशी और शरीर को नाशवान मानते हैं। इसलिए उनके समीप, शरीर का नष्ट होना कोई हानि नहीं है। वे,प्रत्यक्ष या इस लोक को ही नहीं मानते, किन्तु इसके साथ ही, परोक्ष और लोक को भी मानते हैं। यह उपदेश, आस्तिकों के लिए ही है। जो लोग, शरीर के साथ ही, आत्मा का भी नाश मानते हैं, आत्मा और शरीर को, दो नहीं, किन्तु एक ही जानते हैं, ऐसे लोगों के लिए यह उपदेश नहीं है। इसलिए, दुरात्मा द्वारा की हुई अपने आपकी हानि, प्रत्यक्ष में चाहे न दिखती हो, प्रत्यक्ष में चाहे लाभ ही दिखता हो, लेकिन मृत्यु के पश्चात् परलोक में

वह दुरात्मा भीषण सङ्कट में पड़ता है, और आस्तिक लोग, परलोक मानने से इन्कार नहीं कर सकते। आस्तिक लोग, आत्मा को अविनाशी मानने के साथ ही, परलोक पर भी विश्वास करते हैं। तात्पर्य यह कि हानि की सीमा, प्रत्यक्ष दिखने तक ही नहीं है, किन्तु चर्म-चक्षु से न दिखनेवाली हानि भी है, जिसे ज्ञानी लोग, अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं। परलोक में होने वाली हानि को, चर्म-चक्षु से नहीं देखा जा सकता। किन्तु ज्ञान-चक्षु से ही देखा जा सकता है। उस हानि को, चर्म-चक्षु से ही देखने की इच्छा करना, भूल है और नास्तिकता का चिन्ह है।

अनाथ मुनि कहते हैं राजा, मृत्यु के मुख में पड़ने पर, दुरात्मा को महान् पश्चाताप होता है। पश्चाताप के साथ ही, उसे नरक तिर्यंच गति के महान् से महान् कष्ट भी भोगने पड़ते हैं।

लोगों को नरक का भय लगता है, परन्तु नरक आता कहाँ से है? नरक तो दूर रहा, कसाईखाना भी कहाँ से आया है? वास्तव में नरक या कसाईखाने को दुरात्मा ही उत्पन्न करता है। दुरात्मा ही काटा जाता है और दुरात्मा ही कटवाता है।

भगवान् ने तीन प्रकार के पुद्गल बताये हैं। उनमें से पहले प्रकार के पुद्गल वह हैं जिन्हें आत्मा ने ही खराब बना दिया है। पुद्गल तो अपने ही स्वरूप में रहते हैं, किन्तु दुरात्मा उन्हें भी खराब कर देता है। उदाहरणार्थ आपने खीर का भोजन किया। आप जानते हैं कि खाने से पहले खीर स्वाद रूप, गंध आदि की दृष्टि से कैसी थी और पेट में जाकर पच जाने पर कैसी बन जाती है? तो खीर के पुद्गलों को आत्मा ने ही खराब किया है या नहीं? ग्रंथों में कहा है कि सवा लाख कीमत के कपड़े

भी एक ही बार पहनने पर निर्माल्य-निकम्मे हो जाते हैं। उन कपड़ों को निर्माल्य बनाने वाला कौन है? इस प्रकार पुद्गलों को खराब बनाने वाला आत्मा ही है। आत्मा ही पुद्गलों को शस्त्र के रूप में परिणत करता है। अगर आत्मा दुरात्मा न हो तो तलवार को भी फूलों की छड़ी बना सकता है।

तुम्हें जो इन्द्रिया मिली हैं, वह आत्मा के कल्याण के लिये ही मिली हैं। अनन्तानन्त पुण्य का संचय होने पर एक-एक इन्द्रिय मिलती है। किन्तु इतने प्रकृष्ट पुण्य से प्राप्त इन्द्रियों को दुरात्मा कहा-कहा भटका रहा है? साधु भी यदि स यम से पतित होता है और इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है, तो वह भी दुरात्मा है। दुरात्मा ससार में तो आनन्द मानता है, परन्तु जब मौत के मुख में पड़ता है, तब उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है। उस समय लक्षण, ज्योतिष, मत्र आदि का ज्ञान और प्रयोग कुछ भी काम नहीं आता। जिसने अहिंसा की विराधना की है और जो दया को गवा बैठा है, वह जब मौत के मु ह में पहुँचता है तो उसके पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती।

महमूद गजनवी के विषय में कहा जाता है कि उसने १७ बार भारत को लूटा था। अनेक लोगों को बहुत कष्ट देकर बहुत सा धन ले गया था। परन्तु जब वह मरने लगा तो उसने उस धन का अपने सामने ढेर कराया और उसे देख-देख कर बिलख-बिलख कर रोने लगा। वह क्यों रोया, इस सबंध में निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु सभवतः वह इस विचार से रोया होगा कि—

'मैं लोगों को तरह तरह से कष्ट देकर धन लाया, इसका संचय किया और आज यह धन यहीं पड़ा रह जाएगा। फूटी कौड़ी भी मेरे साथ नहीं

जाएगी।' संभव है इस प्रकार का पश्चात्ताप होने के कारण ही वह रोया हो।

इसी प्रकार दुरात्मा जब मृत्यु के मुँह में पड़ता है, तब पश्चात्ताप करने लगता है। तुम भी अपने विषय में विचार करो कि – हम गरीबों को सताकर धन इकट्ठा करेंगे, किन्तु वह हमारे साथ नहीं जाएगा तो कितना पश्चात्ताप करना पड़ेगा?

मैंने यह बात तुम्हारे लिए कही है। परन्तु मुझे भी अपने संबंध में विचार करना चाहिए कि—हे आत्मन्! अगर तू दूसरों को प्रसन्न करने में और अपने सामने नमाने में ही रह गया, कोरी वाह-वाह करवा ली और किंचित् भी स्व-पर दया न की तो आखिर तुझे भी पछताना पड़ेगा।

अनाथी मुनि इस प्रकार शिक्षा देकर कहते हैं—आखिर तो तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे काम आएगी। दूसरा कोई काम नहीं आ सकता। अतएव जो सत्य हो, जो भगवान् की आज्ञा में हो और जिस से स्व-पर की दया हो, तू वही काम कर, इसमें विपरीत मत कर।

अनाथ मुनि की यह शिक्षा जीवन में अवतरित की जाय तो अवश्य ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। अगर आप दया और परमात्मा की की शिक्षा को भलीभाति जान लें तो समझ लो कि आपने सब कुछ जान लिया। इससे अधिक जानने को कुछ नहीं रह जाता। शास्त्र में कहा है कि किसी भी जीव की हिंसा न करना, यही सब धर्मों का सार है।

कोई मनुष्य हजार दो हजार वर्ष पुराना लिखा शास्त्र बतला कर तुमसे कहे कि भगवान् वीतराग फूलों की माला पहन कर बैठे थे, तो क्या तुम उसकी बात मान लोगे? तुम यही कहोगे किसी विकारी ने ऐसा लिख

दिया होगा। वीतराग भगवान् ऐसी सांसारिक भावना में नहीं पड़ सकते।

इसी प्रकार कोई कहे -मुनियों को कम से कम पाच रुपया तो अपने पास रखने ही चाहिए। पास में रुपये हों तो कभी काम में आ सकते हैं। क्या आप इस कथन को मान लेंगे? कदाचित् कोई कहे कि यह मुनि आध्यात्मिकता में बहुत आगे बढे हैं, यह पाच रुपये रक्खें तो कोई हर्ज नहीं है। तो भी आप इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होंगे। आप यही कहेंगे कि ऐसा करना भगवान् की आज्ञा में नहीं है। तो भगवान् की आज्ञा पर इसी प्रकार विचार करते जाओ और उसी पर दृढ़ रहो। ध्वजा की तरह इधर-उधर मत फिर जाओ। अन्यथा पश्चात्ताप करना पडेगा।

अनाथ मुनि राजा श्रेणिक को उपदेश दे रहे हैं। यह उपदेश एक तरह से मुनियों को उपालम्भ रूप है, किन्तु प्रेम के कारण ही यह उपालम्भ दिया जा रहा है। कोई सज्जन पुरुष किसी को उपालम्भ देता है तो आत्मीय समझ कर ही देता है। जिसे पराया समझा जाता है उसे कौन उपालम्भ देने जाता है। उसके विषय में तो यही कहा जाता है कि मुझे उससे क्या सरोकार है! अनाथ मुनि प्रेम से उपालम्भ देते हुए कहते हैं—साधुओ। तुमने किस काम के लिए साधुपन अंगीकार किया है और क्या काम कर रहे हो? तुम्हारा और हमारा ध्येय एक ही है। संसार-भावना के कारण तुम मुझसे अलग न हो जाओ।

जैनधर्म की दृष्टि प्रेम की है। किसी भी आत्मा को कष्ट न देना उसका उद्देश्य है। उसका मुद्रालेख है—

मित्ती मे सव्वभूएसु।

अर्थात्—प्राणी मात्र के प्रति मेरा मैत्रीभाव है। इसी मैत्रीभाव के कारण अनाथ मुनि, दूसरों को सावधान और सतर्क कर रहे हैं।

मुनि, श्रेणिक के सामने कहते हैं—अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो धर्म और परमात्मा के नाम पर खराब काम कर रहे हैं और खराब काम करते हुए भी अपने आपको साधु कहलाते हैं। ससार में बुरे और भले दोनों प्रकार के लोग होते हैं। हजारों वर्ष पहले भी ऐसे लोग थे जो साधुता के नाम पर असाधुता के काम करते थे। किन्तु ऐसे कायरों के कारण साधु मात्र की निन्दा करना अनुचित है।

शास्त्र कहता है—संसार साधुओं के कारण ही शाति का अनुभव कर रहा है। इस ससार में जब साधु नहीं रहेंगे तब यह पृथ्वी तप कर लाल गोले के समान हो जायगी और इस पर रहना अत्यन्त कठिन हो जायगा। भगवान् ने कहा है—इस पंचम काल के अन्त में जब तक एक भी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका है, तब तक शाति रहेगी। साराश यह है कि धर्म के कारण ही शाति मिल रही है। अतएव धर्म के नाम पर ढोंग करने वाले लोगों के कारण धर्म की निन्दा करना उचित नहीं।

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए,
दुहओवि से झिज्झइ तत्थ लोए॥ ४९॥

अर्थ—जो उत्तमार्थ को विपरीत करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को विपरीत समझता है और उसके प्रति अरुचि रखता है, उसका संयम